1250

आर्य [illegible]

जीवन ज्योति

वेद, उपनिषद, मनुस्मृति, योगदर्शन, भगवद्गीता,
महाभारत और धम्मपद के
उपदेशों का संग्रह

दीवानचन्द

महात्मा हंसराज साहित्य विभाग,
आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा,
जालन्धर

आर्य समाज पंजाबी बाग
पुस्तकालय
सं०

५ वीं बार] [[illegible]० आना

महात्मा हंसराज जी

की

पवित्र स्मृति

में

ॐ

भूमिका

पिछले साल मैंने एक छोटी सी पुस्तक 'जीवन रहस्य' लिखी थी। उसमें पश्चिम के पाँच प्रसिद्ध दार्शनिकों के विचार उनके अपने शब्दों में पाठकों के सम्मुख रक्खे थे, और आशा प्रकट की थी कि उसी प्रकार की एक पुस्तक आर्य साहित्य के आधार पर लिखने का यत्न करूँगा। 'जीवन ज्योति' उस आशा की पूर्त्ति का स्थूल रूप है।

आर्य साहित्य का आधार वेद पर है। "वेद का पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।" 'जीवन ज्योति' में कुछ मंत्र दिये गये हैं। मेरी इच्छा है कि पाठक इन मंत्रों को याद कर लें और नित्य उनका पाठ किया करें। इससे उनके जीवन पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ेगा।

वेद के आधार पर जो साहित्य हमारे पुरुषाओं ने निर्माण किया है, उसमें उपनिषदों का स्थान बहुत ऊँचा है। उपनिषदों में प्रसिद्ध उपनिषद यह हैः—

ईश, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, कठ, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर और मैत्रेय।

'उपनिषद' का अर्थ समीप बैठना है। उपनिषदों में वह शिक्षा दी गई है जो गुरु अपने पुत्र अथवा अधिकारी शिष्य को पास बिठा कर देता था। उनके बिषय वे रहस्य हैं, जिन्हें साधारण मनुष्य न समझ सकता है, न उनका अधिकारी है।

उपनिषदों में दार्शनिक विचार और आचार-व्यवहार सम्बन्धी उपदेश मिलते हैं। उनमें भक्ति की शिक्षा भी है। आर्यावर्त्त के दार्शनिक साहित्य

में उपनिषद सबसे प्रथम हैं। पीछे जो दर्शन बनाये गये, वे उनके आधार पर बने। उपनिषदों और दर्शनों की वर्णन शैली में अन्तर है। दर्शन अपने पक्ष में हेतु देते हैं, प्रतिपक्ष की जाँच करते हैं, और उसके खण्डन में भी हेतु देते हैं। उपनिषदों में यह क्रम बरता नहीं जाता। उपनिषदों के लिखने या कहने वालों को जो कुछ सत्य प्रतीत होता है, उसे वे कह देते हैं, उस पर वाद विवाद नहीं करते। दूसरा अन्तर यह है कि दर्शनों की भाषा दार्शनिक है। वे शब्दों को तौल कर बोलते हैं। दर्शन सूत्रों के रूप में हैं और बहुत थोड़े शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। उपनिषदों की भाषा कवियों की भाषा है; इसीलिए उन्हें दार्शनिक काव्य कहा जाता है। दार्शनिक विचारों के अतिरिक्त उनमें कर्तव्य और भक्ति का भी उपदेश है।

उपनिषदों के आधार पर तीन प्रकार का साहित्य पैदा हुआ। सबसे अधिक प्रसिद्ध आर्य दर्शन है। इनमें दार्शनिक विचारों का वर्णन है।

योग और सांख्य आर्य दर्शनों में एक जोड़ा हैं। सांख्य में अधिकतर ज्ञान का विषय है, योग में कर्म का। योग दर्शन के चार पाद या अध्याय हैं। पहिला पाद 'समाधिपाद' बताता है कि योग क्या है। दूसरा पाद 'साधन पाद' है। इसमें उन साधनों का वर्णन है जिनको बरत कर मनुष्य योग में वर्णित उद्देश्य को प्राप्त कर सकता है। तीसरे पाद, 'विभूति पाद', में उन शक्तियों का वर्णन है जो योग क्रिया करते हुये भिन्न भिन्न अवस्थाओं में प्रकट होती हैं। चौथे पाद, 'कैवल्य पाद' में फिर अन्तिम अवस्था का वर्णन है, जो योग क्रिया का अन्तिम लक्ष्य है। मैंने पहिले दो पादों के कुछ सूत्र दिये हैं। उनके साथ कहीं कहीं संक्षेप से व्याख्या भी की गई है।

महात्मा बुद्ध ने आचार पर विशेष बल दिया और इसे ही सम्पूर्ण धर्म कहा। इस आचार में उन्होंने कर्मकाण्ड को कोई स्थान न दिया। इसके साथ ही ब्राह्मणों की बड़ाई का भी अन्त करना चाहा। जब बुद्ध धर्म का प्रभाव फैला, तो ब्राह्मणों ने उसका मुकाबला करने का यत्न किया। बुद्ध धर्म में भक्ति के लिये कोई स्थान न था। इस कमी को दूर करने के

लिये भगवद्गीता की रचना की गई । इसमें भक्ति पर बल दिया गया, परन्तु इस भक्ति को एक पुरुष के साथ बाँध दिया गया, और उस पुरुष को परमात्मा का पद दिया गया ।

भगवद्गीता में कर्म-योग, ज्ञान-योग और भक्ति-योग की शिक्षा दी गई है । भक्ति के लिये ईश्वर के स्थान पर कृष्ण को रख दिया गया है, और उन्हें ईश्वर ही बताया गया है । मैं जब भगवद्गीता के मध्य के पाँच-छह अध्यायों को पढ़ता हूँ, तो मुझे प्रतीत होता है कि मैं एक सूखे रेतीले मैदान में होकर निकल रहा हूँ, जहाँ धार्मिक प्यास बुझाने के लिये पानी प्राप्य नहीं है । यही कारण है कि भगवद्गीता से श्लोक लेते हुए मुझे इन अध्यायों को छोड़ना पड़ा है ।

महाभारत एक बड़ी पुस्तक है । यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण पुस्तक एक मनुष्य की लिखी हुई नहीं । इसमें बहुत कुछ प्रक्षप्ति सामग्री है । महाभारत में मुझे भीष्म के उपदेश बहुत सुन्दर और हितकर प्रतीत हुये हैं । यह उपदेश भीष्म ने मृत्युशय्या पर से दिये थे, और ये उसके ज्ञान और अनुभव का निचोड़ हैं । उन उपदेशों में से कुछ 'जीवन ज्योति' में उद्धृत किये गये ।

महात्मा बुद्ध का उपदेश 'धम्मपद' से दिया गया है । महात्मा बुद्ध सन्यासी थे; उनके उपदेश भी अधिकांश अपने भिक्षुओं के लिये थे । आर्य संस्कृति में सन्यास का स्थान बहुत ऊँचा है, परन्तु समाज में रीढ़ की हड्डी गृहस्थ होते हैं, सन्यासी नहीं होते । यदि कोई जाति सारी की सारी सन्यासी मण्डल बन जाय, तो वह जीवित नहीं रह सकती । आर्य जाति की निर्बलता का एक बड़ा कारण यह है कि आश्रमों में गृहस्थ और वर्णों में क्षत्रिय वर्ण का मूल्य हमने नहीं समझा । बुद्ध धर्म का प्रचार इसके लिये बहुत कुछ उत्तरदायी है । हाँ, जिन लोगों के लिये उनकी अवस्था के विचार से ये उपदेश दिये गये हैं, उनके लिये बहुमूल्य हैं ।

पहिले अध्याय के अतिरिक्त इस पुस्तक में जो कुछ लिखा गया है, उसके सम्बन्ध में मैं यह नहीं कह सकता कि इसका प्रत्येक शब्द मेरे लिये पूर्ण सत्य है। तो भी, जब मैंने उसे इस पुस्तक में लिखा है, तो यह स्पष्ट है कि मैं साधारणतया उसे बहुमूल्य शिक्षा समझता हूँ। प्रत्येक पाठक इसमें से अपने लिये जो कुछ उसके हित के लिये उपयोगी होगा, देख लेगा। बीस पक्षी एक बाटिका में प्रवेश करते हैं। उनमें से एक एक वृक्ष पर जा बैठता है, दूसरा दूसरे पर। प्रत्येक अपनी रुचि और आवश्यकता के अनुसार फलों को ले लेता है। यही आशा किसी पुस्तक के पाठकों से भी की जा सकती है।

कठोपनिषद में कहा है:—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य बरान्निबोधत

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो बदन्ति (३:१४)

मैं भी यही शब्द दुहराना चाहता हूँ: 'उठो, जागो, श्रेष्ठ पुरुषों के पास जाकर ज्ञान प्राप्त करो। ज्ञानी पुरुषों ने बताया है कि धर्म मार्ग पर चलना वैसा ही कठिन है जैसा तेज छुरे की धार पर चलना कठिन है।'

कानपुर,
३१-१२-३९

दीवानचन्द

पांचवें संस्करण में एक नया अध्याय 'मनुस्मृति' बढ़ा दिया गया है।

कानपुर,
१२–४–६१

दीवानचन्द

॥ ओ३म् ॥

अध्याय १

वेद

१—ईश्वर वन्दना

यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥

भूमि जिसका पैर है और अन्तरिक्ष उदर है, द्युलोक को जिसने अपना सिर बनाया है, उस महान् ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्नि यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः ॥

सूर्य और बार बार नया होने वाला चन्द्रमा जिसका नेत्र है, अग्नि को जिसने अपना मुख बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है।

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानी स्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणेनमः॥

वायु जिसका श्वास प्रश्वास है, अङ्गिरस (प्रकाशमान किरणावली) जिसका नेत्र है, दिशाओं को जिसने ज्ञान का साधक (श्रोत्र) बनाया है, उस परम ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

(अथर्व १०:७:३२–३४)

यो भूतञ्च भव्यञ्च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर् यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ।।

जो भूत और भविष्य सब का अधिष्ठाता है, जिसका अपना स्वरूप केवल प्रकाश और आनन्द है, उस महान् ब्रह्म को हमारा प्रणाम है ।

(अथर्व १०:८:१)

२—ईश्वर स्तुति

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे
भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
सदाधार पृथिवीं द्यामुतेमां
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

प्रकाश स्वरूप प्रभु सृष्टि के पहले वर्तमान था, और वह इस उत्पन्न हुए विश्व का एकमात्र प्रसिद्ध स्वामी था । उसीने इस द्युलोक और पृथिवी को धारण किया हुआ है । उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व
उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्यच्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जो आत्मिक शक्ति और बल देने वाला है, सब जिसकी उपासना करते हैं, देव जिसकी आज्ञा में चलते हैं; जिसकी छाया अथवा शरण पाना अमर होना है और जिससे दूर होना ही मृत्यु है, अथवा जो मृत्यु का भी अधिष्ठाता है, उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं ।

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैक
इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पद:
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जो अपने महत्व के कारण इस जड़ एवं जंगम का निश्चय रूप से एकमात्र राजा है, जो इस विश्व के द्विपद एवं चतुष्पद सभी पर शासन करता है, उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं ।

(ऋ: १०:१२१:१-३)

येन द्यौ रुग्रा पृथिवी च दृढ़ा
येन स्व: स्तभितं येन नाक: ।
योऽन्तरिक्षो रजसो विमान:
कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिसने उग्र द्यु लोक और दृढ़ पृथिवी को धारण किया है, जिसने स्व: (स्वर्लोक अथवा सुख) और मोक्ष को धारण किया है, जो अन्तरिक्ष में लोक लोकान्तरों को घुमाता हुआ धारण कर रहा है, उस सुखस्वरूप देव का हम त्याग द्वारा पूजन करते हैं ।

(ऋ० १०:१२१:५)

३—शिव संकल्प

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।

जो दिव्य मन जाग्रत अवस्था में दूर निकल जाता है और उसी प्रकार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला, ज्योतियों की ज्योति अर्थात् इन्द्रियों का प्रकाशक मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो ।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीरः ।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ।।

कर्मशील, मनीषी, धीर पुरुष जिसके द्वारा परोपकार क्षेत्र में तथा जीवन-संघर्ष में बड़े बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो ।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च
यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।

यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जो नये नये अनुभव कराता है, पिछले जाने हुए का स्मरण करता है, संकट में धैर्य धारण कराता है, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अमर ज्योति है, जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्
परिगृहीतम मृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस अमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान सभी जाना जाता है, जिससे सात होताओं वाला यज्ञ फैलाया जाता है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

यस्मिन्नृचः सामयजू ँ षि यस्मिन्
प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः ।
यस्मिंश्चित्त ँ सर्वमोतं प्रजानां
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ॥

जिसमें ऋचायें, साम और यजु इस प्रकार टिके हुए हैं, जैसे रथ की नाभि में अरे, जिसमें इन्द्रियों की सारी प्रवृत्ति पिरोई रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्
नेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं
तन्मे मनः शिव संकल्पमस्तु ।।

अच्छा सारथी जिस प्रकार वेगवान घोड़ों को बागों से पकड़ कर चलाये जाता है, उसी प्रकार जो मनुष्यों को लगातार चलाता रहता है, जो हृदय में रहने वाला, बड़ा फुर्तीला और सर्वाधिक वेग वाला है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो ।

(यजु० : ३४: १-६)

४—धार्मिक जीवन

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मागृधः कस्य स्विद्धनम् ।।

इस चलायमान संसार में जो कुछ चलता हुआ है, वह सब ईश्वर से आच्छादित है । उसी की देन समझ कर वस्तुओं का भोग करो, और किसी के धन का लालच मत करो ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ।।

इस संसार में कर्म को करते हुए सौ वर्ष जीने की इच्छा करो; तभी तुमसे कर्म का लगाव छूट सकेगा । कर्म बन्धन से छूटने का इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं है ।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।।

जो आत्मघात करने वाले पुरुष हैं, वे यहाँ से शरीर छोड़कर उन लोकों में जाते हैं जो प्रगाढ़ अन्धकार से भरे हुए हैं, और असुरों के योग्य हैं ।

(यजु० ४०:१–३)

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

जो आत्मा में समस्त प्राणियों को और समस्त प्राणियों में आत्मा को अनुभव करता है, वह किसी से घृणा नहीं करता ।

(यजु० ४०:६)

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः शोकः कः एकत्वमनुपश्यतः ।।

जिस अवस्था में एकता का दर्शन करने वाले ज्ञानी पुरुष को सब प्राणियों में आत्मतत्व ही प्रतीत होने लगता है, उस अवस्था में उसे मोह और शोक नहीं रहता ।

(यजु० ४०:७)

५—संगठित रहो

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्य
तारा नाभिमिवाभितः ।।

तुम्हारी जलशाला एक सी हो, अन्न का विभाजन साथ-साथ हो; एक ही जुए में मैं तुमको साथ साथ जोड़ता हूँ। जैसे पहिये के अरे नाभि में चारों ओर से जुड़े होते हैं, वैसे ही तुम सब मिल कर ज्ञान स्वरूप प्रभु की पूजा करो।

(अथर्व ३:३०:६)

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।

एक साथ आगे बढ़ो, संवाद करो, तुम्हारे विचार एक जैसे हों, जैसा पहले देवता (सूर्य चन्द्रादि) एक मन होकर अपने अपने भाग का सेवन कर रहे हैं, अर्थात अपना कर्त्तव्य करते हुए विश्व की स्थिति के कारण बने हैं।

(ऋ० १०:१९१:२)

६–निर्भयता

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं
द्यावा पृथिवी उभे इमे ।
अभयं पश्चादभयं पुरस्ता
दुत्तरादधरादभयं नो ऽस्तु ।।

अन्तरिक्ष में हमारे लिये अभय हो, द्यौ और पृथिवी में अभय हो, अभय पीछे से हो, आगे से हो; ऊपर और नीच से हमारे लिए अभय हो।

अभयं मित्रादभयममित्रा
दभयं ज्ञातादभयं पुरो यः ।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः
सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु ॥

हम मित्रों से अभय हों, शत्रुओं से अभय हों, जाने हुए परिचितों से अभय हों और जो आगे आने वाले हैं, अपरिचित हैं, उनसे भी अभय हों। रात्रि और दिन में हम निर्भय रहें। समस्त दिशायें हमारे मित्र रूप में हों।

(अथर्व० १९:१५:५:६)

७—मेधा

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु ॥

हे ज्ञान स्वरूप प्रभो ! पितर और देवगण जिस धारणवती बुद्धि की उपासना करते हैं, उससे आज मुझे मेधावी बना दो।

(यजु० ३२:१४)

मेधां सायं मेधां प्रातः मेधां मध्यन्दिनं परि ।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिः वचसा वेशयामहे ॥

मेधा को सायं, प्रातः, मध्यदिन के समय, सूर्य की रश्मियों के साथ और बचन के साथ हम ग्रहण करते हैं।

(अथर्व० ६:१०८:५)

ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

ईश्वर सत् ज्ञानस्वरूप और आनन्दमय है। उसी विश्व के उत्पादक, दिव्य गुणधारी प्रभु के श्रेष्ठ तेज का हम ध्यान करते हैं। वह प्रभु हमारी बुद्धि को उत्तम मार्ग में चलाये।

(यजु० ३६:३)

८. व्रंत और उसका फल

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाऽऽप्नोति दक्षिणाम् ।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते ।।

व्रत से दीक्षा, दीक्षा से दक्षिणा (योग्यता, निपुणता), दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त किया जाता है।

(यजु० १९:३०)

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यमि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम ।
इदमहम नृतात् सत्यमुपैमि ।।

व्रतों के पति परमात्मन ! मैं व्रत का आचरण करूँगा; मुझ में उसके पालने की सामर्थ्य हो। वह मेरा व्रत पूरा हो जाय। इसमें मैं अनृत से निकल कर सत्य में प्रविष्ट होता हूं।

(यजु० १:५)

कृतं मे दक्षिणं हस्ते जयो मे सव्य अहितः ।
गोर्जद् भुयासमपूर्वजद् धनं जयो हिरण्य जंत् ।।

मेरे दाहिने हाथ में कर्म है, मेरे बाएँ हाथ में विजय स्थित है। मैं गौओं, घोड़ों, धनों और सुवर्ण का जीतने वाला बनूं ! (यह वस्तुएँ मेरे कर्म का फल मेरी जीत में प्राप्त हों)

९—सार्वजनिक मित्रभाव

दृते दृँहं मा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्यचक्षुषा समीक्षामहे ।।

हे दृढ़ बनाने वाले ! मुझे ऐसा दृड़ बना कि सब प्राणी मुझे मित्र की दृष्टि से देखें; मैं स्वयं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखता हूँ। हम सब एक दूसरे को मित्र की दृष्टि से देखें ।

१०—अमरत्व का साधन

वेदाहमेतं पुरुषं महान्त--
मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।४१।।

मैं इस महान्, सूर्य के समान प्रकाशस्वरूप, अंधकार से पृथक् परमात्मा को जानता हूँ। उसी को जान कर प्रत्येक प्राणी मृत्यु से छुटकारा पाता है। मोक्ष के लिये इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है ।

(यजु०:३१:१८)

११. जीवात्मा और परमात्मा

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्य--
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा), प्रेमी और सखा एक हो वृक्ष (प्राकृतिक जगत) पर बैठे हैं। उनमें एक (जीवात्मा) वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है; दूसरा खाता नहीं, केवल देखता है।

(ऋग०:१:१५४:२०)

अध्याय २

उपनिषद्

१—प्रजापति का उपदेश

"प्रजापति की तीन प्रकार की सन्तान—देवों, मनुष्यों और असुरों ने अपने पिता प्रजापति के पास जा कर ब्रह्मचर्य्य का सेवन किया। जब वे ब्रह्मचर्य्य का सेवन कर चुके, तो देवों ने प्रजापति से कहा, "हमें उपदेश दीजिए"। प्रजापति ने कहा, "द", और पूछा "तुमने समझा?" देवों ने कहा, "हाँ! समझ लिया है। आपने कहा है, अपने आप पर दमन करो"। प्रजापति ने कहा, "ठीक! तुमने समझ लिया है।"

तब मनुष्यों ने उससे कहा, "महाराज! हमें उपदेश दीजिये।" प्रजापति ने कहा "द", और पूछा "तुमने समझा?" मनुष्यों ने उत्तर दिया, "हाँ! समझ लिया है, आपने कहा है, दान में कमाई व्यय करो," प्रजापति ने कहा कहा, "ठीक! तुमने समझ लिया है।"

तब असुरों ने उससे विनय की, "महाराज हमें उपदेश दें।" प्रजापति ने कहा, "द", और पूछा, "तुमने समझा?" असुरों ने जवाब दिया, "हाँ समझ लिया है, आपने कहा है, "दयावान् बनो"। प्रजापति ने कहा, "ठीक तुमने समझ लिया है।"

जब बिजली कड़कती है, तब उसकी कड़क से आवाज आती है:— "द, द, द"। यह प्रजापति का उपदेश होता है, दम्यतां, (अपने मन को वश रक्खो), दत्तां (दान दो), दयाध्वं (निर्बलों पर दया करो)।

अतएव इन तीनों-- दमन, दान और दया--का प्रचार करना चाहिये।"

वृहदारण्यक ५:२

मनुष्यों में कुछ ऐसे होते हैं जिनका मुख्य चिन्ह उनका ज्ञान होता है। ये लोग समाज का मष्तिष्क हैं। इनका काम दूसरों को ज्ञान देना है। उनके लिए यह बात परम ग्रावश्यक है कि उनका जीवन पवित्र हो। जो गुरु ग्रथवा उपदेशक ग्रपने मन ग्रौर इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकता, वह दूसरे के जीवन पर क्या प्रभाव डाल सकता है?

मनुष्यों में ग्रसुर वे हैं, जिनका विशेष चिन्ह उनका बल हैं। उनके लिए सबसे आवश्यक बात यह है कि वे अपने बल का उपयोग निर्बलों की रक्षा के लिए करें। जिस तरह ग्रध्यापक और उपदेशक का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह विषयों का दास हो; इसी प्रकार बलवान का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह निर्बलों पर अत्याचार करे। इन दोनों श्रेणियों को छोड़कर शेष लोगों को साधारण कोटि का मनुष्य कहते हैं। इनसे यही आशा करनी चाहिए कि वे जो कुछ अपने परिश्रम से कमाते हैं, उसका एक भाग वे समाज-सेवा ग्रौर परोपकार के लिए व्यय करें। प्रजापति ने ग्रपनी तीन प्रकार की सन्तान को दमन, दान ग्रौर दया की शिक्षा इन शब्दों का पहला ग्रक्षर 'द' कह कर दे दी।

२—जीवन क्या है?

"**उक्थम्**—बढ़ना–जीवन बढ़ने का नाम है। जीवन के कारण ही सब कुछ बढ़ता है। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, उसकी सन्तान बढ़ने वाली और बलवान होती है। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, वह उक्थ (बढ़ने, के स्वभाव और उसके स्थान, को प्राप्त कर लेता है (उक्थ रूप बन जाता) है।

यजु:—(संगठन)-- जीवन संगठन का नाम है। जहाँ जीवन है, वहाँ सङ्गठन है। जो ऐसा जानता है, उसकी बढ़ाई के लिए सारे प्राणी उससे

मिल जाते हैं। जो ऐसा जानता है, वह बजु: (संगठन) के स्वभाव और उसके स्थान को प्राप्त कर लेता है–– (संगठन रूप ही बन जाना है)

साम---(अपने समान बना लेना, अपने आप में लय कर लेना) जीवन अपने आप में विलीन कर लेने का नाम है। जहाँ जीवन है, वहाँ भिन्न भिन्न पदार्थ एक ही बन जाते हैं। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, उसकी बढ़ाई के लिए सारे प्राणी एक रूप ही हो जाते हैं। जो व्यक्ति ऐसा जानता है, वह शाम के स्वभाव और स्थान को प्राप्त कर लेता है (साम-रूप ही हो जाता है)।

क्षत्र (अपनी रक्षा करना) : जीवन अपनी रक्षा करने का नाम है। जहां जीवन है, वहां बाहरी आक्रमणों से अपनी रक्षा की जाती है। जो ऐसा जानता है वह अपनी रक्षा आप करता है। कोई दूसरा उसके लिए नहीं कर सकता। वह क्षत्र के स्वभाव और स्थान को प्राप्त कर लेता है (क्षत्र-रूप ही बन जाता है) "

(वृहदारण्यक ५:१३)

जीवन के चार चिन्हों का यहां वर्णन किया गया है। हर एक जीवित पदार्थ बढ़ता है; वह एक पदार्थ की भाँति काम करता है; वह जीवित रहने के लिये अपने आस पास से भोजन लेता है और उसे अपना अङ्ग बना लेता है; वह अपनी रक्षा के लिए जितना यत्न कर सकता है, करता है।

इसे समझने के लिए मनुष्य शरीर को देखें। मनुष्य जीवन का आरम्भ एक घटक (सैल) से होता है। इसका एक भाग पिता के शरीर से आता है दूसरा माता के शरीर से। यह घटक बहुत छोटा होता है। यह एक से दो होता है, दो से चार और चार से आठ। इस प्रकार ये घटक बढ़ते जाते हैं। माता के गर्भ से जिस समय बच्चा बाहर आता है, उस समय उसका वजन तीन चार सेर के लगभग होता है। इस काल में उस एक घटक

ने अपने आपको अनेक घटकों में परिवर्त्तित कर लिया है। वीस वर्ष का युवक होने तक वह तीन साढ़े तीन सेर प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ता है। यह सब भी घटकों के विभाजन से होता है। युवक पुरुष के शरीर में ६० लाख करोड़ घटक होते हैं। अगर उन्हें आर्य्यावर्त्त के छोटे बड़े पुरुषों और स्त्रियों में बाँटें तो प्रत्येक के हिस्से में डेढ़ लाख घटक आयेंगे। प्रारम्भ के एक घटक ने ही बढ़ते बढ़ते यह रूप धारण कर लिया है।

शरीर के विभिन्न अङ्ग अपना अपना काम करते हैं, परन्तु इन सब कार्य्यों का एक मात्र लक्ष्य शरीर का जीवन स्थिर रखना और बढ़ाना होता है। और यथार्थ तो यह है कि मेरी आंखें नहीं देखतीं, मैं आंखों से देखता हूं, मेरा आमाशय भोजन नहीं पचाता; मैं भोजन पचाता हूं। मनुष्य का शरीर सङ्गठन का एक बहुत अच्छा उदाहरण है।

जीवन के सम्बन्ध में यह बात बड़ी आश्चर्यजनक है कि जीवित पदार्थ दूसरी वस्तुओं को अपने में लय कर लेता है और अपना अन्न बना लेता है। मैं फल और चावल खाता हूं; कुछ घण्टों के उपरान्त न चावलों का पता मेरे शरीर में लगता हैं न फल का। वे मेरे मांस, मेरे रुधिर और मेरी हड्डियों के रूप में बदल जाते हैं। बच्चा पीता दूध है, परन्तु उससे अपना मांस और रुधिर बनाता है। नीम का वृक्ष खेत की खाद और मिट्टी को नीम बना लेता है, आम का वृक्ष आम बना लेता है।

जहां जीवन है, वहां आत्मरक्षा भी उपस्थित है। बाहर की गर्मी ६० अंश हो या ११५ अंश, परन्तु मेरा शरीर अपना तापमान ९८·४ अंश स्थिर बनाये रखता है। छोटी से छोटी जीवित बस्तु अपने जीवन को स्थिर रखने के लिये यत्न करती है।

जीवन के ये चिन्ह जातियों की अवस्था में भी देखे जाते हैं। इनके आधार पर हम बलवान और निर्बल जातियों में भेद कर सकते हैं।

३—अन्तिम उपदेश

"याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियां थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। मैत्रेयी को ब्रह्म सम्बन्धी विचार में रुचि थी, कात्यायनी घर के काम काज में चतुर थी। याज्ञवल्क्य की इच्छा हुई कि वह गृहस्थ को छोड़ कर अगले आश्रम में प्रवेश करे।

याज्ञवल्क्य ने कहा: "मैत्रेयी! देखो; मैं चाहता हूं कि वर्त्तमान आश्रम को छोड़ कर सन्यास ले लूँ। अतएव मैं चाहता हूँ कि अपनी सम्पत्ति तुम दोनों में बाँट दूं।"

मैत्रेयी ने कहा: "यदि सारा संसार समस्त संपत्ति समेत मेरा हो, तो क्या मैं अमर हो जाऊंगी?"

याज्ञवल्क्य ने कहा: "नहीं, तुम्हारी अवस्था एक धनवान पुरुष की अवस्था हो जायेगी; परन्तु धन से कोई अमर तो नहीं हो सकता।"

मैत्रेयी ने कहा: "यदि मैं धन से अमर नहीं हो सकती, तो धन मेरे किस काम का? मुझे तो ऐसा ज्ञान दीजिये, जो मुझे अमर बना दे।"

याज्ञवल्क्य ने कहा: "तुम मुझे पहले से ही प्रिय थीं, इस प्रश्न से तुमने मेरे प्रेम को और बढ़ा दिया है। आओ, बैठो, मैं तुम्हें अमर होने के साधनों के सम्बन्ध में बताऊं। उसे समझने का यत्न करो।

पति की कामना के लिए पत्नी पति को प्यार नहीं करती, आत्मा की कामना के लिये उसे पति प्यारा होता है। पत्नी की कामना के लिये पति को पत्नी प्यारी नहीं होती, किन्तु आत्मा की कामना के लिये उसे पत्नी प्यारी होती है। पुत्रों की कामना के लिये पुत्र प्यारे नहीं होते, किंतु आत्मा की कामना के लिये पुत्र प्यारे होते हैं। धन धन के अर्थ प्यारा नहीं होता, किंतु आत्मा की कामना के लिये यह प्यारा होता है। ब्राह्मणत्त्व (ब्राह्मणपन) ब्राह्मणपन के लिये प्यारा नहीं, किन्तु आत्मा की कामना के

लिये प्यारा होता है। क्षात्रत्व (शासन) क्षात्रत्व के लिये प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना के लिये प्यारा होता है। परलोक (वर्त्तमान जीवन के उपरन्त प्राप्त होने वाली अच्छी अवस्थायें) लोकों की कामना से प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना से लोक प्यारे होते हैं। देवत्त्व की कामना से देव प्यारे नहीं होते, किन्तु आत्मा की कामना से प्यारे होते हैं। समस्त प्राणियों से प्रेम उनकी कामना से नहीं किया जाता, किंतु आत्मा की कामना से किया जाता है। अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्माण्ड की कामना से प्यारा नहीं होता, किन्तु आत्मा की कामना से प्यारा होता है।

ऐसे आत्मा को ही देखना, सुनना तथा मनन करना चाहिये। देखने, सुनने, मनन करने से जब इस आत्मा का ज्ञान होता है, तो सब कुछ समझ में आ जाता है ?"

(बृहदारण्यक ४:५: १-६)

"जहां द्वैत का भाव होता है, वहां एक दूसरे को देखता है; वहां एक दूसरे को सूंघता है; वहां स्वाद लेने वाला दूसरे पदार्थ का स्वाद लेता है; वहां बोलने वाला दूसरे से बातचीत करता है; वहां सुनने वाला दूसरी वस्तु का शब्द सुनता है; वहां मनन करने वाला दूसरे पदार्थ का मनन करता है; वहां छूने वाला दूसरे पदार्थ को छूता है; वहां (इनमें किसी प्रकार से) जानने वाला किसी दूसरे पदार्थ को जानता है। परन्तु जिस पुरुष के लिये सब कुछ उसका आत्मा ही बन गया है, वह कैसे किसी वस्तु को देख सकता है ? सूंघ सकता है ? स्वाद ले सकता है ? कुछ बोल सकता है ? कुछ सुन सकता है ? किसी वस्तु का मनन कर सकता है ? किसी वस्तु को छू सकता है ? कुछ जान सकता है ?"

"मनुष्य जिस आत्मा से सब कुछ जानता है, उस आत्मा को किस से जाने ? यह आत्मा न यह है, न वह (कोई विशेष पदार्थ जिसे देख छू

सकते हों, नहीं है।); इसे पकड़ा नहीं जा सकता; इसे छिन्न भिन्न नहीं किया जा सकता; इसे छुआ नहीं जा सकता, इसका कोई अंग नहीं; इसे पीड़ा नहीं हो सकती, इसका नाश नहीं होता।

प्यारी मैत्रेयी ! "अमरत्व के सम्बन्ध में ज्ञान यहां तक जाता है।" यह कह कर याज्ञवाल्क्य वन को चला गया।

(वृहदारण्यक ४:५: १५)

इस उपदेश के दो भाग हैं। पहले भाग में याज्ञवल्क्य ने कहा कि जिस रूप में भी प्रेम प्रकट हो, वह वास्तव में आत्मप्रेम ही है। कहने को लोग पति-पत्नी, भाई-बन्धु, मित्रादि से प्रेम करते हैं, परन्तु यदि अच्छी तरह उसकी परीक्षा करें, तो पता लगता है कि वास्तव में सब कुछ अपने लिये ही किया जाता है। स्थूल पदार्थों के अतिरिक्त कुछ लोग सूक्ष्म पदार्थों और आदर्शों से भी प्रेम करते हैं। कोई अपना जीवन ज्ञान उपार्जन करने में लगा देता है, कोई देश सेवा में; कोई स्वतंत्रता के लिये जीवन भर लड़ता है, कोई धर्म प्रचार को अपना मुख्य काम बना लेता है। इन अवस्थाओं में भी अन्तिम उद्देश्य अपनी भलाई होती है।

इस उपदेश को एक से अधिक अर्थों में समझा जा सकता है। सबसे निम्न कोटि का अर्थ यह है कि मनुष्य की प्रकृति में अपनी भलाई की वासना सबसे प्रबल वासना है, शेष समस्त चेष्टायें इस चेष्टा के अधीन होती हैं। जहाँ कोई पदार्थ हमारे व्यक्तिगत स्वार्थ या उन्नति के मार्ग में बाधक बनता है, वहां हम उसे ठोकर लगा कर परे फेंक देते हैं। एक जर्मन दार्शनिक ने कहा है, "एक छोटे से कीड़े से पूछो: 'ब्रह्माण्ड के कितने भाग हैं ?' वह कहेगा: "दो; एक मैं, दूसरा शेष सब कुछ"। फिर उससे पूछो: 'इनमें कौन सा भाग अधिक मूल्यवान है ?' वह तुम्हारी ओर आश्चर्य से

देखेगा और कहेगा, "यह भी कोई पूछने की बात है ? अधिक मूल्यवान भाग तो मैं ही हूँ।" मेरी अपनी भलाई का तात्पर्य क्या है ? साधारण पुरुष कहेगा कि भलाई का अर्थ 'सुख' है, जो इन्द्रियों की मांग पूरी करने से मिलता है। साधारण पुरुष का उत्तर एक हद तक ठीक है, परन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं। हमारा अनुभव हमें बताता है कि बहुधा हम इन्द्रियों की तृप्ति से परे जाना चाहते हैं। मनुष्य अपने लिये आदर्श बनाता है और उनकी सिद्धि के लिये सब सुखों का बलिदान कर देता है। इसीलिए कुछ दार्शनिक कहते हैं कि हम चाहते तो सदा अपनी भलाई हैं, परन्तु यह भलाई हमारी प्रसन्नताओं तक सीमित नहीं है; यह उनसे बहुत परे जाती है। जो पुरुष अपनी पत्नी को प्यार करता है, उसके मन में आदर्श–पति का एक चित्र बना होता है और वह अपने आपको उस चित्र के अनुसार बनाना चाहता है; उस आदर्श को प्यार करता है, जो उसने अपने लिये एक पति का बनाया है। इसी प्रकार दूसरा पुरुष जो अपने मित्र के लिये कष्ट सहन करता है, वह अपने आपको आदर्श मित्र बनाना चाहता है; आदर्श मित्र का जो चित्र उसने तैयार किया है, उसे प्यार करता है और उसी के अनुसार अपने आपको बनाना चाहता है।

हम प्रत्येक दशा में अपने आपको प्यार करते हैं। उस स्व को नहीं, जो अब हम हैं, वरन् उस स्व को जो हम बनना चाहते हैं। टामस हिल ग्रीन ने इस बात पर बहुत बल दिया है और कहा है कि 'प्रत्येक चेष्टा में वस्तुतः अपने आपकी चेष्टा होती है।' इन अर्थों में याज्ञवल्क्य के उपदेश का तात्पर्य यह है कि जो कुछ कोई मनुष्य चाहता है, वह अन्त में अपनी भलाई के लिये ही चाहता है. उसकी समस्त चेष्टायें, उसका सम्पूर्ण प्रेम, इसी उद्देश्य के साधनमात्र होते हैं। जो बात मुझे मेरे पड़ोसी से पृथक करती है, वह यह है कि मैं अपनी भलाई एक वस्तु में समझता हूं, वह दूसरी में समझता है। एक पुरुष लिखने पढ़ने में अपना हित देखता है, दूसरा धन संग्रह में। जो कुछ किया जाता है, वह, याज्ञवल्क्य के शब्दों में, आत्मा की कामना से किया जाता है। इस

अर्थ को लें, तो हम वास्तविक आत्म-प्रेम को निम्नकोटि के भोग से अलग करते हैं, और उसे जीवन का उद्देश्य बनाते हैं। याज्ञवल्क्य की शिक्षा को देखते हुये यह अर्थ अधिक ठीक प्रतीत होता है।

एक और अर्थ में इस उपदेश को लिया जा सकता है। सम्भव है कि आत्मा' शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ हो। इस दशा में इस उपदेश का अभिप्राय यह है कि संसार में जहाँ कहीं सौंदर्य है, वह परमात्मा का प्रकाश है। जब कोई वस्तु मुझे अपनी ओर खींचती है, तो वास्तव में परमात्मा उस वस्तु के द्वारा मुझे अपनी ओर खींचता है। जितना भी क्लेश हम अनुभव करते हैं, वह परमात्मा से बिछड़ने के कारण होता है। हमारा आत्मा इस वियोग का अन्त करना चाहता है। सुन्दर वस्तुओं का प्रेम इसका एक साधन है। जब हम किसी पदार्थ से प्रेम करते हैं, तो उस समय के लिये अपने आपको और अपनी विभिन्नता को भूल जाते हैं, अपने प्रियतम में अपने आपको तन्मय कर देते हैं। यदि समस्त पदार्थों को परमात्मा का प्रकाश समझा जाये, तो समस्त प्रेम वास्तव में आत्मा का प्रेम ही हो जाता है।

याज्ञवल्क्य के उपदेश के दूसरे भाग में इसी प्रकार के परिणाम की ओर संकेत किया गया है। दुःखों का कारण यह है कि एक मनुष्य अपने आपको दूसरे पदार्थों से पृथक समझता है। उनको देखने, सुनने, छूने, जानने का यत्न करता है। जब द्वैतभाव मिट जाता है, तो इस प्रकार के ज्ञान के लिये कोई स्थान नहीं रहता। और जहां तक आत्मा का सम्बन्ध है, इसे ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। आत्मा तो आप जानने वाला हैं। आँख सब वस्तुओं को देखती है, परन्तु अपने आपको नही देख सकती; जिह्वा सब वस्तुओं का स्वाद लेती है, परन्तु अपना स्वाद नहीं ले सकती। इसी प्रकार आत्मा जिन साधनों से दूसरे पदार्थों को जानता है, उन साधनों से अपने आपको नहीं जान सकता। यह कहा जा सकता है कि सांसारिक पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से होता है, दूसरे आत्माओं का ज्ञान अनुमान से होता है, अपने आत्मा का ज्ञान स्वयं-सिद्ध है।

४—ब्रह्म-ज्ञान

"ब्रह्म मन से ही जानने के योग्य है। उसमें अनेकता बिल्कुल नहीं। जो मनुष्य उसमें अनेकता देखता है, वह जन्म मरण के चक्कर में फंसा रहता है।

एक प्रकार से इस ब्रह्म को देखना चाहिए, जिससे अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं हो सकता, जिसका कोई मुख्य स्थान नहीं, जो आकाश से अधिक सूक्ष्म है, जो अजन्मा है, महान् है, एक रस रहता है; उसे ब्रह्म जान कर बुद्धिमान ब्राह्मण अपनी धारणा को निश्चित करे। बहुत नामों का ध्यान न करे, क्योंकि बहुत नाम बुद्धि को विकृत ही करते हैं।"

(बृहदारण्यक ४:५:१९-२१)

किसी प्रतिज्ञा के सिद्ध करने का अर्थ यह होता है कि किसी दूसरी प्रतिज्ञा के साथ, जिसकी सचाई को हम मानते हैं, उस प्रतिज्ञा की अनुकूलता प्रकट की जाय। यदि उस दूसरी प्रतिज्ञा को प्रमाणित करना हो, तो उसे किसी तीसरी प्रतिज्ञा के अनुकूल दिखाना चाहिये, जिसे हम ठीक मानते हैं। यही क्रम चलता रहता है। और अन्त में हम उस प्रतिज्ञा पर पहुंचते हैं, जो प्रमाणित नहीं हो सकती, क्योंकि कोई बात उस से अधिक स्पष्ट नहीं। उपनिषद् का अभिप्राय यहां यह प्रतीत होता है कि ब्रह्म सब का मूल है, प्रत्येक वस्तु का आधार उसी पर है, इसे किसी दूसरे पदार्थ से सिद्ध नहीं कर सकते।

५—सच्चा ब्राह्मण

"ब्रह्म की अनादि महत्ता कर्मों से घटती बढ़ती नहीं। मनुष्य को चाहिये कि उसकी महत्ता को जाने। इसे जान लेने पर बुरे कर्म उसे मलिन०

नहीं करते। इस लिए जिस मनुष्य ने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो शान्त है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जो वासनाओं से स्वतन्त्र है, जो सहनशील और संयमी हो कर आत्मा में ही आत्मा को देखता है, और सर्वात्मा को देखता है, पाप उस पर विजय नहीं पाता, वरन् वह पाप पर विजय पाता है; पाप उसे नहीं जलाता, वह पाप को भस्म कर देता है। वह पाप और संशय से मुक्त हो जाता है, वह पवित्र है, वही सच्चा ब्राह्मण है"।

(बृहदारण्यक ४:४:२३)

६—आत्मा ही ज्ञान का स्वरूप और प्यार करने योग्य है

"आत्मा शरीर में प्रविष्ट हुआ है। जैसे छुरे के कोप में छुरा होता है, अथवा जैसे गर्म पदार्थ में अग्नि होती है, वैसे ही आत्मा शरीर में नख से शिखा तक है। उसे लोग देखते नहीं। वह विभिन्न रंगों में अधूरा प्रकट होता है: सांस लेता हुआ वह प्राण कहलाता है, बोलता हुआ वाणी कहलाता है, देखता हुआ आँख, सुनता हुआ कान और मनन करता हुआ मन कहलाता है। यह आत्मा के कर्मों के नाम हैं। जो मनुष्य इनमें से एक शक्ति की—इन सबके मूल से भिन्न—उपासना करता है, वह आत्मा को नहीं जानता, क्योंकि किसी एक शक्ति के रूप में तो वह असम्पूर्ण (अधूरा) है। इस विशेष शक्ति से तो किसी विशेष कर्म का ही प्रकाश होता है। मनुष्य को आत्मा की उपासना करनी चाहिये, यह समझ कर कि सारा भेद उसमें मिट जाता है। इसी आत्मा से सब पदार्थों का ज्ञान होता है, जैसे पैरों के चिन्हों से चलने वाले के सम्बन्ध में ज्ञान होता है।

यह आत्मा पुत्र से अधिक प्यारा है, धन सम्पत्ति से अधिक प्यारा है, शेष सब वस्तुओं से अधिक प्यारा है, क्योंकि यह सबसे अधिक निकट

है । यदि कोई कहे कि वह आत्मा की अपेक्षा किसी दूसरी वस्तु से अधिक प्रेम करता है, तो उससे कहो कि यह दूसरे पदार्थ तो विनाशी हैं (उनका सम्बन्ध टूट जायगा, कब तक उनसे प्रीति कर सकोगे ?); आत्मा ही ऐश्वर्य्यवान् है, उससे ही प्रेम करने वाला ऐश्वर्य्यवान् होता है । जो पुरुष आत्मा से ही प्रेम रखता है, उसका प्रेम नाशवान पदार्थों से नहीं होता ।"

(वृहदारण्यक १:४:७-८)

७–मनुष्य जीवन और उसकी चेष्टायें

"पहले आत्मा अकेला था । उसने इच्छा की, 'मेरे लिये पत्नी हो'; फिर इच्छा की, 'इससे सन्तान उत्पन्न हो;' फिर इच्छा की 'धन प्राप्त हो जिससे कर्म कर सकूँ' । मनुष्य की कामनायें इसी सीमा तक पहुंचती हैं । यदि वह इनसे अधिक की कामना भी करे, तो भी कुछ अधिक नहीं पाता । अब भी मनुष्य की इच्छायें यही हैं: मुझे पत्नी मिले, मेरे सन्तान हो, मुझे धन मिले, मैं कुछ काम कर सकूँ। जब तक यह वस्तुएँ या इनमें से कोई उसे प्राप्त नहीं होती, मनुष्य अपने को अपूर्ण समझता है । यही आत्मा की अपूर्णता है ।"

(वृहदारण्यक १:४ : १७)

साधारण मनुष्य का जीवन जिस परिधि में घूमता रहता है, उसका चित्र यहाँ साधारण शब्दों में खींचा गया है । मनुष्य समाज जातियों का समूह है। हर एक जाति छोटे समूहों से बनती है । सब से छोटा समूह एक परिवार है । परिवार का आधार एक पुरुष और स्त्री के एकत्र होने पर है। सन्तान की उत्पत्ति जीवन की प्राकृत चेष्टा है । अपने आप को स्थिर रखने के लिये, जीवन प्रत्येक पुरुष और स्त्री को साधन रूप में बरतता है। जीवन स्थिर रखने के लिये हर एक को धन सम्पत्ति की भी आवश्यकता पड़ती है । यह तीनों—पत्नी, सन्तान और सम्पति—

मिल जायें, तो भी आत्मा सन्तुष्ट नहीं होती। उसकी आन्तरिक आवश्यकता यह होती है कि वह कुछ करे, सामाजिक जीवन की सफलता और उन्नति के लिये अपने यत्न से कुछ योग दे। यह कामना जीवन पर्यन्त बनी रहती है। मनुष्य को काम करते हुए ही जीवनकी इच्छा करनी चाहिये।

८—तीन लोक और सम्प्रत्ति

"तीन ही लोक हैं:—मनुष्य-लोक, पितृ-लोक और देव-लोक। मनुष्य-लोक सन्तान से जीता जाता है, और किसी तरह नहीं; पितृ–लोक शुभ कर्म करने से जीता जाता है, देव-लोक विद्या से जीता जाता है। इन लोकों में देव-लोक दूसरे लोकों से उत्तम है, इसलिये लोग विद्या की प्रशंसा करते हैं"।

"अब सम्प्रत्ति (मरते समय जो कुछ पिता पुत्र को सौंपता है) का वर्णन करते हैं।

जब कोई पुरुष समझता है कि उसकी मृत्यु का समय आ पहुँचा, तो वह अपने पुत्र से कहता है: "तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है" पुत्र उत्तर देता है: "मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ"।

जो कुछ भी सीखा गया है, उस सब को 'ब्रह्म' कहा गया है, जो कुछ परोपकार का काम या कर्मकाण्ड किया गया है, उसे 'यज्ञ' कहा गया है, जो कुछ संसार में है, उस सबको 'लोक' कहा गया है।

यह सब कुछ इतना महान् है। पिता विचार करता है, "इस सब कुछ की यह अवस्था है, मेरा पुत्र मुझे इस संसार से जाने में सहायता दे। इसी लिये कहते हैं कि उचित शिक्षा पाया हुआ पुत्र पिता के लिये उत्तम अवस्था प्राप्त कराने का साधन होता है। इसीलिये उसे शिक्षा दी जाती है।

जब ऐसा ज्ञान रखने वाला पिता संसार से जाता है, तब अपनी शक्तियों के साथ पुत्र के शरीर में प्रवेश करता है। जो कुछ वह आप नहीं कर पाया, उसकी कमी उसका पुत्र पूरी कर देता है। इसी लिये उसे पुत्र (तारने वाला) कहते हैं। पुत्र से ही पिता इस लोक में स्थिर रहता है। अमृतमय प्राण अर्थात् दैवी शक्तियाँ भी पुत्र में प्रवेश करती हैं"।

(वृहदारण्यक १:५:१६--१७)

जीवन की तीन अवस्थायें हैं; उन्हें मनुष्य-लोक, पितृ-लोक और देव-लोक कहा गया है। जिस मनुष्य के पुत्र पैदा हो जाता है, वह शारीरिक दृष्टिकोण से मरने पर भी उस पुत्र के शरीर में जीवित रहता है। जब तक यह क्रम चलता रहेगा, तब तक वह जीवित रहेगा। भले कर्मों से मनुष्य को ऊंची पदवी मिलती है। वह बड़ों में गिना जाता है। सबसे ऊँची अवस्था वह है जो ज्ञान से उत्पन्न होती है। उसे देवलोक कहा गया है।

इस उपदेश के दूसरे भाग में अति उत्तम शिक्षा दी गई है। साधारण मनुष्य अपने जीवन का बहुत बड़ा भाग अपने परिवार के लिए व्यय करता है। वास्तव में हमारी सबसे मूल्यवान सम्पति हमारी सन्तान है। उसके सम्बन्ध में हम क्या करते हैं? उसके लिये हम बहुत कुछ सञ्चय करते हैं, परन्तु स्वयं सन्तान का क्या बनाते हैं? प्रत्येक पिता की बड़ी आकाँक्षा यह होनी चाहिये कि उसका पुत्र सांसारिक ऐश्वर्य्य, परोपकार और विद्या में उसका स्थान ले सके। यही तीन वस्तुयें शेष सर्वस्व से अधिक मूल्यवान हैं। केवल यही नहीं कि पुत्र पिता का स्थान ले सके, वरन् जो कुछ कमी पिता के जीवन में इन तीनों बातों के सम्बन्ध में रह गई हैं, उसे पूरा कर दे। इस प्रकार पुत्र का काम केवल यही नहीं कि पिता के काम और नाम को प्रचलित रक्खे, वरन् यह भी कि उसे आगे बढ़ाये। जिस पिता को ऐसा पुत्र मिल जाये, वह भाग्य-

वान है। जिस पिता को ऐसा पुत्र मिल जाये, वह मरने पर भी जीवित रहता है। जिसका काम चलता रहता है और फलता फूलता है, वह अमर है।

१०—मुख्य प्राण या जीवन शक्ति

"प्रजापति की सन्तान देवों और असुरों में झगड़ा हो पड़ा। देवों ने "उद्गीथ"[1] को अपने साथ मिलाया, यह सोच कर कि उसकी सहायता से वह असुरों को जीत लेंगे।

तब उन्होंने 'गन्ध' (सूंघने की वायु) के रूप में 'उद्गीथ' की उपासना की। असुरों ने 'गन्ध' को पाप से बींध दिया। इसलिए मनुष्य अच्छी वस्तुएँ सूंघता है और बुरी भी, क्योंकि गन्ध पाप से बिंधी हुई है।

इसके पीछे देवों ने वाणी के रूप में 'उद्गीथ' की उपासना की। असुरों ने 'वाणी' को पाप से बींध दिया। इसलिये मनुष्य सत्य बोलता है और झूठ भी, क्योंकि 'वाणी' पाप से बिंधी हुई है।

तब देवों ने 'आंख' के रूप में उद्गीथ की उपासना की। असुरों ने आंख को पाप से बींध दिया। इसलिये मनुष्य देखने योग्य वस्तुएँ भी देखता है और न देखने योग्य वस्तुयें भी, क्योंकि आंख पाप से बिंधी हुई है।

तब देवों ने 'कान' के रूप में उद्गीथ की उपासना की। कान को असुरों ने पाप से बींध दिया। इसलिये मनुष्य भली बातें भी सुनता है और बुरी भी, क्योंकि कान पाप से बिंधा हुआ है।

---

[1] उद्गीथ:——सामवेद के विशेष मंत्र जो एक यज्ञ में पढ़े जाते हैं,

तब देवों ने 'मुख्यप्राण' (जीवन–शक्ति) को 'उद्गीथ' समझ कर उसकी उपासना की। जब असुरों ने उस प्राण पर भी आक्रमण किया, तो वे आप टुकड़े टुकड़े हो गये, जैसे मिट्टी का ढेला कड़े पत्थर पर लगने से चूर-चूर हो जाता है।

उस प्राण से मनुष्य सुगन्ध दुर्गन्ध में भेद नहीं करता, क्योंकि यह प्राण पाप से मुक्त है। जो कुछ मनुष्य इस प्राण की सहायता से खाता पीता है, वह दूसरी शक्तियों को भी सहारा देता है। जब यह प्राण नहीं रहता, तो मनुष्य का जीवन समाप्त हो जाता है और उसका मुंह खुल जाता है (मृत्यु के समय मुँह बन्द करने की शक्ति नहीं रहती)।

(छान्दोग्य १:२)

वृहदारण्यकोपनिषद में कहा गया है कि प्राण अन्य सब शक्तियों से बड़ा और सबसे श्रेष्ठ (उत्तम) है। हम आंख और कान से देखते और सुनते हैं, परन्तु जीवन के लिए देखना और सुनना आवश्यक नहीं, बहुत सी जीवित वस्तुयें हैं, जो न देखती हैं न सुनती हैं। हम वाणी की सहायता से दूसरों पर अपने विचार प्रकट करते हैं, परन्तु जीवन के लिए यह भी आवश्यक नहीं।

मनुष्यों में मानसिक शक्ति मुख्यशक्ति है। यह भी जीवन के लिए आवश्यक नहीं। जीवन शक्ति इन सब शक्तियों से पहिले उपस्थित थी, वह सबसे अवस्था में बड़ी है। इन दूसरी शक्तियों का विकास पीछे हुआ। जीवन शक्ति अन्य शक्तियों से उत्तम भी है। शेष सब शक्तियों पर पाप का प्रभाव हो सकता है, परन्तु मुख्य प्राण पर पाप प्रभाव नहीं जमा सकता। मनुष्य आँख, कान, मन और वाणी से अच्छे बुरे दोनों प्रकार के काम करता है। सूरदास ने जब देखा कि उसकी आखें उसे पाप मार्ग पर ले जाती है, तो उसने आँखों को फोड़ दिया। उसकी दृष्टि में ऐसी आंखें रखने से अन्धा होना अच्छा था। इसी प्रकार दूसरी शक्तियों का भी

दुरुपयोग होता है, तो वे हमें पाप के गढ़े में गिरा देती हैं । उपनिषद् की इस कथा में यह बताया गया है कि विशुद्ध जीवन- शक्ति पर पाप का प्रभाव नहीं पड़ता, वह अपने आप में निर्दोष है और निर्दोष रहती है । दूसरी शक्तियाँ मनुष्य को कीचड़ में भी खींच ले जाती है।

११—धर्म के स्कन्धा

''धर्म के तीन भाग हैं:—

यज्ञ, वेदपाठ और दान यह पहला भाग है।
तप दूसरा भाग है।

ब्रह्मचारी आचार्य्य कुल में रहता हुआ अत्यन्त, क्लेश सहता हुआ, तीसरा भाग है। (ब्रह्मचर्य्या का पालन करना तीसरा भाग है)

(छान्दोग्य २:२३:१-२)

वेद पाठ, यज्ञ और दान देना यह सबके साझे काम हैं। इनके अतिरिक्त ब्राह्मण का कर्तव्य वेद पढ़ाना, यज्ञ कराना और आवश्यकता पड़ने पर दान लेना भी है। क्षत्रिय का काम रक्षा करना और वैश्य का काम धन पैदा करना है। सबके साझे कर्मों को यहाँ धर्म का पहला भाग कहा गया है ।

ब्रह्म-प्राप्ति के लिये जो साधन बरते जाते हैं, उनकी ओर संकेत करते हुए कठोपनिषद में तीन साधनों का वर्णन किया गया है:— वेदपाठ, तप और ब्रह्मचर्य्या। ब्रह्मचर्य्य का अर्थ केवल पहले आश्रम की तपस्या ही नहीं, इसे अधिक विस्तृत अर्थों में बरता गया है। इस ब्रह्मचर्य्य को सभी आश्रमों में मनुष्य सेवन कर सकता है। इसके दो अंग हैं एक संयमी जीवन, दूसरा ब्रह्म जिज्ञासा (ब्रह्म की खोज)।

१२—आचार्य्य का अन्तिम उपदेश

जब आचार्य्य अपने शिष्य को पढ़ा चुके, तो अन्तिम उपदेश यह दे:—

१- सच बोलो, धर्म का आचरण करो।
स्वाध्याय में आलस्य न करो।

आचार्य्य की धन से सेवा करते रहो, और गृहस्थ में प्रवेश रहके संसार का क्रम प्रचलित रक्खो।

सत्य, धर्म, स्वास्थ्य के नियम, ऐश्वर्य्य प्राप्ति के साधन करने और पढ़ने पढ़ाने में आलस्य न करो।

धार्मिक, पारिवारिक और सामाजिक कर्मों के करने में आलस्य न करो।

२-माता की पूजा करो, पिता की पूजा करो, आचार्य्य की पूजा करो, अतिथि (अपरिचित अभ्यागत) का सत्कार करो।

भले कर्म करो, बुरे कर्मों से बचो।

हमारे कर्मों में जो अच्छे हैं, उनका अनुकरण करो, दूसरों का नहीं। दान श्रद्धा से देना चाहिए। श्रद्धा न हो, तो भी देना चाहिए।

दान खुले हाथ देना चाहिए। अधिक न हो, तो थोड़ा ही देना चाहिए।

भय (लोकलज्जा) से भी दान देना चाहिए, और इस विचार से भी कि जिस काम के लिये दान माँगा जाता है, वह भला काम है।

३. यदि तुम्हें किसी काम के सम्बन्ध में सन्देह हो कि वह अच्छा है या बुरा, तो देखो कि कोई ऐसे ब्राह्मण हैं जो समझदार हैं, नेक हैं, कोमल स्वभाव वाले हैं, धर्म से प्यार करने वाले हैं। ऐसे अवसर पर जैसा इन पुरुषों

का व्यवहार हो, वैसा ही तुम भी करो।

इसी प्रकार यदि दुष्ट पुरुषों के सम्बन्ध में सन्देह हो कि उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये, तो सोचो कि समझदार, नेक, कोमल स्वभाव वाले, धर्म को प्यार करने वाले ब्राह्मण उनसे कैसा व्यवहार करेंगे, वैसा ही तुम भी करो।

"यह आदेश है, यह उपदेश है, यह वेद की शिक्षा का सार है, यह शास्त्र की आज्ञा है। इसी प्रकार धर्म का पालन करना चाहिये"

(तैत्तिरीय उपनिषद् १:१३)

१४—श्रेयः और प्रेयः

(धर्म मार्ग और भोग मार्ग)

"श्रेयः (भद्र, शुभ) एक वस्तु है, और प्रेयः (वासना तृप्ति) दूसरी वस्तु है। ये दोनों दो विभिन्न उद्देश्यों को रखते हुए मनुष्य को बाँधते हैं। जो मनुष्य श्रेयः को ग्रहण करता है, उसका कल्याण होता है; जो प्रेयः को ग्रहण करता है वह अपने उद्देश्य को प्राप्त नहीं करता।

श्रेयः और प्रेयः दोनों मनुष्य के सामने आते हैं। बुद्धिमान पुरुष दोनों की जाँच करता है, और उनमें भेद करता है। बुद्धिमान श्रेयः को चुन लेता है, परन्तु मूर्ख लोभवश प्रेयः को पसन्द करता है।

अविद्या में फँसे हुए, अपने आपको धीर और पंडित समझते हुये, बेसमझ लोग भटकते चक्कर लगाते रहते हैं, जैसे अंधे, जिनका मार्ग प्रदर्शन अंधे ही करते हों।

जो मूर्ख धन के मद में मस्त हैं, उसे परलोक दिखाई नहीं देता। वह समझता है कि वास्तव में इसी लोक का अस्तित्व है, इससे परे कुछ नहीं। ऐसा मानने वाला जन्म मरण के चक्कर में पड़ा रहता है।

(कठ:२: १-२)

बहुत से लोगों को आत्मा के सम्बन्ध में सुनने का अवसर ही नहीं मिलता। बहुतेरे इसके सम्बन्ध में सुनते हैं, परन्तु इसके स्वरूप को समझते नहीं।

आत्मा के स्वरूप को समझने वाला कहीं विरला ही मिलता है। ऐसे गुरु से शिक्षा पाकर समझने वाला भी विरला ही होता है।

जिस मनुष्य ने आप ही आत्मा को नहीं जाना, उसके समझाने से दूसरा समझ नहीं सकता, चाहे वह कितना ही विचार कर ले। किसी योग्य गुरु के समझाये बिना आत्मा का स्वरूप समझ में नहीं आता, यह बहुत सूक्ष्म है। शेष सब पदार्थों से अति-सूक्ष्म है।

(कठ २:५-८)

१५—यम का नचिकेता को उपदेश

"चारों वेद जिस पद की व्याख्या करते हैं, सारे तप जिसका वर्णन करते हैं, जिस पद की इच्छा करते हुये मनुष्य ब्रह्मचर्य्य को धारण करता है, उस पद को मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूं—वह 'ओ३म्' है।

निश्चय रूप से यह अक्षर (नाश न होने वाला) ही 'ब्रह्म' है, यह अक्षर ही परम (सबसे श्रेष्ठ) है। इसी अक्षर को जानकर जो पुरुष जिस वस्तु की कामना करता है, वह उसे प्राप्त हो जाती है।

'ओ३म्' का यह सहारा सबसे उत्तम है, यह सहारा सबसे ऊंचा है, इस सहारे को जानकर ब्रह्म में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है।"

(कठ. २ : १५-१७)

१६—जीवात्मा और परमात्मा

"दो पक्षी हैं: वे एक दूसरे के मित्र और प्रेमी हैं। एक ही वृक्ष (प्रकृति की सृष्टि) पर बैठे हैं। उनमें से एक इस वृक्ष के स्वादिष्ट फलों को खाता है. दूसरा न खाता हुआ केवल देखता है।

अध्याय ३

१—मनुस्मृति

भारत के धार्मिक साहित्य में स्मृति का स्थान केवल श्रुति से निम्न है। श्रुति सबके लिये एकसा सुना हुआ ज्ञान है, किसी मनुष्य का अनुभव या विचार नहीं; स्मृति किसी व्यक्ति विशेष के विचार हैं जो स्मृति शक्ति द्वारा सूचित होते हैं। श्रुति में ऐसे नियम दिये जाते हैं, जो देश और काल के भेद से ऊपर हैं; स्मृति में इन नियमों को देश और काल की अपेक्षा में लागू करने का यत्न होता है। श्रुति एक है, स्मृतियां अनेक हैं, और उनमें भेद का होना स्वाभाविक ही है। यह भेद एक दृष्टान्त से स्पष्ट हो जाता है। विवाह के सम्बन्ध में वेद में आदेश है कि यौवन प्राप्ति पर पुरुष और स्त्री विवाह करें। स्मृतिकार देश और काल को ध्यान में रखकर कहता है कि यह काल पुरुष की हालत में २५ वर्ष की आयु में, और कन्या की हालत में १६ वर्ष की आयु में आता है। यह प्रौढ़ता भिन्न देशों में और एक देश के भिन्न भागों में भिन्न कालों में आती है।

स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान बहुत ऊँचा है। इसमें मुख्य विषय सामाजिक व्यवस्था है। यह व्यवस्था प्रायः नीति और राजनीति पर आधा-रित होती है। नीति का मुख्य अस्त्र उपदेश है; जहां उपदेश काम नहीं करता और जाति का हित इसकी मांग करता है, वहाँ राजनीति दण्ड का प्रयोग करती है। मनुस्मृति में नीति और राजनीति दोनों मिले जुले हैं। हमारे लिये राजनीतिक भाग का महत्व ऐतिहासिक है; हमें वर्तमान शासन के राज-नियम के अधीन रहना होता है; नैतिक भाग का महत्व

अधिक है। भारत की सामाजिक व्यवस्था बहुधा वर्ण–आश्रम व्यवस्था है। वर्ण–भेद सभी जातियों में होता है, स्थिति–भेद के कारण कुछ भेद के साथ। प्राचीन यूनान में केवल तीन वर्ण स्वीकृत थे—वैश्य और शूद्र एक ही श्रेणी में थे, और दोनों, सभी स्त्रियों की तरह, नागरिकता के पूरे अधिकारों से वंचित थे। अब पश्चिम में वर्ण–विभाजन की नींव जन्म पर नहीं, परन्तु गुण–कर्म पर है। आश्रमों में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ तो सार्वजनिक हैं; वानप्रस्थ और सन्यास भारत की विशेषता हैं। प्रतीत होता है कि यहाँ भी इन दोनों में भेद पीछे हुआ। जब याज्ञवल्क्य ने गृहस्थ त्याग किया, तो नये आश्रय के रूप की बाबत कुछ नहीं कहा। मनुस्मृति में कहा है कि चारों आश्रमों की व्यवस्था केवल ब्राह्मण के लिये हैं।

यह भी कहा है कि शूद्र ब्राह्मण के कर्म करने से ब्राह्मण हो जाता है, और ब्राह्मण शूद्र के कर्म करने से शूद्र हो जाता है। महाभारत में भी ऐसे परिवर्तन की संभावना स्वीकार की है, परन्तु उसी जन्म में नहीं। मनु का विचार अधिक उदार है।

मनुस्मृति से कुछ उद्धहरण नीचे दिये जाते हैं। यह सब 'सत्यार्थ प्रकाश' से लिये गये हैं; यों तो सब कुछ स्वामी दयानन्द की देन ही हैं।

१—धर्म और अधर्म

'अधर्म कभी फल दिये बिना नहीं रहता, परन्तु उसका फल तुरन्त ही नहीं मिल जाता। अधर्माचरण धीरे धीरे सुख के मूलों को काटता जाता है।

अधर्मात्मा मनुष्य पहले फलता फूलता है, सफल होता है, परन्तु पीछे शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, जैसे जड़ कायां हुआ वृक्ष नष्ट हो जाता है।'

(४:१७२,१७४)

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य प्रिययात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

अर्थ कामेष्वसक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते ।
धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

'वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मा की तुष्टि—यह चार धर्म के साक्षात् लक्षण कहे जाते हैं ।

'हां, धर्म का ज्ञान होता उसे ही हैं जो लोभ और काम में फँसा न हो । जिज्ञासुओं के लिये श्रुति परम प्रमाण है ।' (२:१२,१३)

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम् ॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, शौच, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अक्रोध— ये १० धर्म के लक्षण हैं ।'

(६:९१)

ऊपर दिये श्लोकों में तीन बातें कही गयी हैं:

(१) धर्म का नियम अबाध्य है ।
(२) धर्म की पहिचान की कसौटी क्या है ?
(३) धर्म के लक्षण ।

इन तीनों पर कुछ शब्द कहेंगे ।

(१) विज्ञान की नींव कारण-कार्य नियम की स्वीकृति पर है । इस नियम के अनुसार, प्रत्येक कार्य किसी कारण का परिणाम है, और जो कारण किसी कार्य को उत्पन्न करता है, वह, ठीक उसी स्थिति में, सदा और हर कहीं उस कार्य को उत्पन्न करेगा । नीति की नींव में इसी प्रकार का नियम यह है कि प्रत्येक कर्म, शुभ हो या अशुभ हो, अपना फल अवश्य देता है । कर्म-फल के व्यक्त होने में कुछ समय लग जाये तो लग जाये, यह टल नहीं सकता । इन दोनों नियमों को सत्य और ऋतु कहते हैं । वेद मंत्र में

कहा गया है कि सृष्टि सृजन के साथ, इसकी व्यवस्था के लिए, सत्य और ऋत को भी जन्म दिया गया । कर्म का सिद्धान्त भारत की विचार–धारा में प्रमुख सिद्धान्त है ।

(२) धर्म अधर्म में भेद करने के लिए प्रत्येक मनुष्य के पास एक साधन है—उसका आत्मा किसी कर्म की बाबत क्या कहता है ? श्लोक में "प्रिय" शब्द का प्रयोग हुआ है; इसका अर्थ यह नहीं कि हम भाव से पूछें कि इसकी पसंद क्या है, अपितु ग्रात्मा बुद्धि के प्रयोग से निश्चय करे कि व्यक्ति का वास्तविक हित किस में है ।

जब मनुष्य यह निश्चय न कर सके, या यह सन्देह हो कि भाव बीच में कूद पड़ेगा, तो ग्रपने विचार से उत्तम कसौटी यह है कि हम सदाचार की ग्रोर देखें । 'सदाचार' दो ग्रर्थों में प्रयुक्त होता है– (१) साधु पुरुषों का ग्राचरण और (२)प्रचलित व्यवहार । दूसरे अर्थ में सदाचार का महत्व इसलिए है कि दीर्घ अनुभव ने जिस व्यवहार को हितकर बताया है, वही स्थिर हुग्रा है । एक अंग्रेजी कथन के अनुसार, 'लोकसभा अपने सबसे सयाने सदस्य से भी ग्रधिक सयानी है ।' समकालीन सदाचार से भी ग्रधिक विशाल स्मृतिकार का दृष्टिकोण है । यदि स्मृतियों में भी मत–भेद हो, तो ग्रन्तिम कसौटी श्रुति या वेद है । मनु ने इसे ही परम प्रमाण कहा है ।

(३) दार्शनिक विवेचन धर्म–अधर्म की कसौटी की बाबत पूछता है; साधारण मनुष्य स्थूल आदेशों का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है । उसके लिये मनुस्मृति ने धर्म के १० लक्षण बताये हैं । इनमें कुछ आचरण के नीचे आते हैं, कुछ आचार के; कुछ प्रायः व्यक्तिगत जीवन से सम्बद्ध हैं, कुछ सामाजिक जीवन से । इनमें कोई विशेष क्रम नहीं दीखता ।

व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में निम्न लक्षण हैं—

धृति, दम, शौच, इन्द्रिय निग्रह, बुद्धिमत्ता, विद्या ।

शौच—शारीरिक लक्षण

बुद्धिमता, विद्या—ज्ञान-सम्बन्धी लक्षण

इन्द्रिय निग्रह, दम—भाव-सम्बन्धी लक्षण

धृति—क्रिया-सम्बन्धी लक्षण

सामाजिक जीवन के सम्बन्ध में निम्न लक्षण हैं—

अस्तेय—दूसरे का माल न लेना।

सत्य—दूसरे को धोखा न देना।

अक्रोध—दूसरे को हानि पहुँचाने की चेष्टा न करना।

क्षमा—कोई दूसरा बुरा करे, तो उदारता से उसका बदला न लेना।

अक्रोध और क्षमा से अगला कदम करुणा है; मनु की सूची में इसका जिक्र नहीं। कई और लक्षणों की भी उपेक्षा की गयी है।

२—सामान्य शिष्टाचार

'जो इन्द्रियां मन को विषयों में प्रवृत्त करती है, उन्हें रोकने का प्रयत्न करे, जैसे सारथी घोड़े को रोक कर ठीक मार्ग पर चलाता है। भोगों के भोगने से कामना तृप्त नहीं होती; अग्नि में ईंधन और घी ड़ालने से यह और प्रचण्ड होती है।

इन्द्रियों और मन को वश में करके, युक्त आहार व्दवहार से शरीर की रक्षा करता हुआ, अर्थ को सिद्ध करे।'

(२:८८,९४,१००)

'सदा सत्य बोले, मीठा बोले; कड़वा सत्य और मीठा असत्य न बोले। यह सनातन धर्म है।

जो दूसरे के हित में है, वह कहे।'

(४:१३८–९)

'जिस मनुष्य के जीवन में तप नहीं, जो पढ़ा लिखा नहीं, जो इधर उधर

से धन समेटना चाहता है—यह तीनों मानो पत्थर की नौका में समुद्र में जा रहे हैं। वे अपने दुष्ट कार्यों के साथ डूबते हैं।

धर्म से प्राप्त किया धन उक्त तीनों प्रकार के पुरुषों को दान दिया जाये, तो वह देने वाले को इस जन्म में, और लेने वाले को पर जन्म में नष्ट कर देता है।'

(दान देने वाला मूर्ख है, लेने वाला पापी है।)

(४:१९०,१९३)

'जैसे दीमक वल्मीक को बनाती है, वैसे ही परलोक के लिये धीरे धीरे धर्म का संचय करे।'

(४:२३३)

'जिन कार्यों के करने में मनुष्य पराधीन हो, उन्हें यत्न से त्याग देना चाहिये; स्वाधीत कर्मो का यत्न से सेवन करना चाहिये।'

'दुख और, सुख का लक्षण संक्षेप में यही है कि परवश होना दुख है, और आत्मवश होना सुख है।'

(४:१५८, १६०)

३—वर्ण धर्म

'पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना, दान लेना–यह ६ ब्राह्मण के कर्म हैं।

प्रजा की रक्षा, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, विषयों में न फँसना क्षत्रिय के कर्म हैं।

पशु पालन, दान देना, यज्ञ करना, स्वाध्याय, व्यापार करना, रुपया सूद पर लगाना, खेती करना वैश्य के कर्म हैं।

शूद्र का काम स्वामी की सेवा करना है। उसी से वह अपनी जीविका बनाये।'

(१:८८–९१)

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के तीन साझे कर्म हैं—वेद शास्त्र का स्वाध्याय, दान देना, यज्ञ करना; अन्य कर्म उनके विशिष्ट कर्म हैं।

शूद्र में इन कर्मों की योग्यता ही नहीं; उसका काम अन्य वर्णों की सेवा करना है। शूद्र सेवक है, दास या बेचने खरीदने की वस्तु नहीं। दासता की प्रथा, जैसी यह प्राचीन यूनान में थी, या अमेरिका और अन्य देशों में जारी थी, भारत में जारी नहीं रही।

४—गृहस्थ

महत्व

'जिस तरह नद और नदियां समुद्र में पहुंच कर ही स्थित होती हैं, उसी तरह अन्य सभी आश्रम गृहस्थ पर आश्रित होते हैं।'

(६:९०)

गृहस्थ का सुख

'जिस कुल में पत्नी से पति और पति से पत्नी संतुष्ट रहते हैं, उस कुल में सदा कल्याण का निवास होता है।

कुल में स्त्री की प्रसन्नता से प्रसन्नता होती है, उसकी अप्रसन्नता से अप्रसन्नता होती है।'

(३:६०, ६२)

नारी का स्थान

'कल्याण की इच्छा करने वाली स्त्री को चाहिये कि अपने पिता, भाई, पति और देवर का सत्कार करे।

जहां स्त्रियों का सत्कार होता है, वहाँ देवता रमण करते हैं (उस परिवार के जीवन में देवत्व विद्यमान होता है); जहां स्त्रियों का सत्कार नहीं होता, वहाँ सब क्रिया विफल होती है।

जिस घर में स्त्रियाँ शोकातुर और दुखी होती हैं, वह घर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है; जहाँ वे शोक और दुख से विमुक्त होती हैं, वहाँ सदा वृद्धि होती है।

इसलिये ऐश्वर्य की कामना करने वालों को चाहिये कि भूषण, वस्त्र और खाने की वस्तुओं से सदा स्त्रियों का सत्कार करें।'

(३:५७–५९)

'निम्न ६ कार्य नारी को दूषित करने वाले हैं:—
मादक वस्तुओं का सेवन,
दुर्जनों की संगति,
पति से अलग रहना,
इधर उधर आवारा फिरते रहना,
दूसरे के घर में सोना,
दूसरे के घर में जा रहना ।'

५—राजनीति

दण्ड का स्थान

'दण्ड ही प्रजा पर शासन करता है, दण्ड ही सबकी रक्षा करता है; जब सभी सोये होते हैं, तो दण्ड जागता है। इसलिये बुद्धिमान दण्ड ही को धर्म कहते हैं।

जो दण्ड बुद्धि पर आश्रित होता है, वह सबके लिए हितकर होता है, जो बुद्धि पर आश्रित नहीं होता, वह हर प्रकार से विनाशक सिद्ध होता है।'

राजा से अच्छे प्रकार चलाया हुआ दण्ड धर्म, अर्थ और काम की वृद्धि करता है; राजा कामात्मा, कुटिल–बुद्धि और हीनभाव हो, तो आप ही दण्ड से विनष्ट हो जाता है।

(७:१७,१८,२७)

ऊपर दिये श्लोकों में पहले श्लोक में दण्ड को धर्म कहा गया है। यदि यहाँ धर्म से राजधर्म अभिप्रेत है, तो इसका अर्थ यह है कि शासन का प्रमुख काम व्यवस्था बनाये रखना है। इसके लिए उसके हाथ में पर्याप्त शक्ति होनी चाहिये, और उसे इस शक्ति के प्रयोग के लिए उद्यत रहना चाहिये। यदि यहां धर्म को विशाल अर्थ में लिया गया है, तो नीति और राजनीति को मिला दिया गया है। प्राचीन यूनान में राज्य और समाज में भेद नहीं किया जाता था; राज्य जीवन के हरेक पहलु में दखल दे सकता था। प्लेटो की 'रिपब्लिक' की तरह मनुस्मृति में भी नीति और

राजनीति दोनों घुले मिले हैं। इसके विपरीत, कुछ विचारकों का ख्याल है कि शासन का काम व्यवस्था बनाये रखना है; जो कुछ इसके लिए अनिवार्य है, वही इसे करना चाहिये; नैतिक विचार इससे असंगत हैं। नदी पर पुल बनाते हुए इन्जीनियर का काम इतना ही है कि पुल अच्छा और दृढ़ बने; वह उस समय अन्य विवेचनों की तरह नैतिक विवेचन से भी अलग रहता है। ऐसी ही स्थिसि शासक की है।

६—मिश्रित

'जिस मार्ग पर पिता पितामह चले हों, उसी पर चलें; उनमें जो सत्य पुरुष हों, उनके मार्ग पर चलें, जो दुष्ट हों, उनके मार्ग पर न चलें।'

(४:१७८)

'शरीर के अङ्ग जल से शुद्ध होते हैं, मन सत्य से शुद्ध होता है, आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होता है, और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।'

(५:१०९)

'शूद्र ब्राह्मण के कर्म करने से ब्राह्मण हो जाता है, और ब्राह्मण शूद्र के कर्म करने से शूद्र हो जाता है।' (१०:६५)

'वेद शास्त्र के सुनने सुनाने से बुद्धि और धन की वृद्धि होती है; इनका स्वाध्याय नित्य होना चाहिए। ज्यों ज्यों मनुष्य इन्हें पढ़ता है, त्यों त्यों उसका ज्ञान बढ़ता है और उसकी रुचि भी बढ़ती है।'

(४:१९–२०)

'अप्राप्त की प्राप्ति की इच्छा करे, प्राप्त की रक्षा यत्न से करे; जो रक्षित है, उसे बढ़ाता जाये, और बढ़े हुए धन को पात्रों की सहायता में खर्च करे।' (७:९९)

'धन, बन्धु, आयु, कर्म और विद्या—यह ५ मान के स्थान हैं। इनमें धन से बन्धु, बन्धु से आयु, आयु से कर्म और कर्म से विद्या अधिक आदर के योग्य हैं।'

'ब्राह्मण की बड़ाई ज्ञान से है, क्षत्रिय की बल से है, वैश्य की सम्पत्ति से है, और शूद्र की आयु से है।'

(२:१३६,१५५)

'जो गृहस्थ अपनी पत्नी से परे नहीं देखता, जो अपनी पत्नी के सम्बन्ध में भी ऋतुगामी होता है, वह ब्रह्मचारी ही हैं।'

(३:५०)

'अत्यन्त कामात्मता प्रशंसा के योग्य नहीं, वैसे ही पूर्ण रूप में कामना का त्याग भी श्रेष्ठ नहीं; वेद ज्ञान और वैदिक कर्म सब कामना का ही फल है।

कामना के बिना कोई क्रिया भी हो नहीं सकती; जो कुछ भी मनुष्य करता है, कामना और संकल्प का ही फल है ?

(२:२,४)

गौतम बुद्ध ने कामना को दुख का कारण समझा और कामनाओं के पूर्ण त्याग को जीवन का लक्ष्य बताया। मनु के अनुसार ऐसा त्याग संभव ही नहीं; और संभव हो, तो भी उचित नहीं। आवश्यकता इस बात की है कि कामनायें शुभ हों। वेद में 'शिव संकल्प' को बहुत महत्व दिया गया है।

अध्याय ४

योग दर्शन

(क) समाधिपाद

१—योग क्या है ?

'योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है।
वृत्तियों के रुक जाने पर आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है।
वृत्तियां यदि न रुकें, तो आत्मा वृत्ति को ही ग्रहण कर लेता है।'
(२-४)

आज कल बेकारी और दरिद्रता के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा सुना जाता है, परन्तु नगरों में सिनेमा-भवनों के बाहर भीड़ लगी रहती है। साधारण पुरुष भी अपना समय खर्च करते हैं और खेल देखते हैं। अच्छा खेल वह समझा जाता है जो देखने वालों को पूर्णतया अपने आप में मग्न कर लेता है। जब तक देखने वाला उसे देखता है, उसे अन्य पदार्थों का ध्यान ही नहीं आता। वह अपने आपको भी भूल जाता है। खेल में लीन हो जाने का अर्थ क्या है ? देखने वाला अपने आपको दृश्य रूप बना लेता है। जब देखता है कि किसी पुरुष का इकलौता बेटा जवानी में किसी अत्याचारी के हाथ से मारा गया है, तो वह रोना चिल्लाना प्रारम्भ कर देता है। वास्तव में न उसका बेटा मरा है, न खेल करने वाले का। खेल करने वाला तो रुपया दो

रुपया की मजदूरी के लिए खेल कर रहा है। किन्तु खेल देखने वाला, खेल देखते हुए, यह भेद नहीं करता; उसकी बुद्धि उस ससय काम नहीं करती, वह अपने आपको मानों रंगस्थल पर खेल करता हुआ अनुभव करता है। इस सहानुभूति के कारण वह सुख या दुख का अनुभव करता है। इसी के लिये वह अपना समय और धन व्यय करता है। नाटक समाप्त होने पर वह बाहर आता है। उस समय वह संसार में प्रविष्ट होता है जो नाटक के के जगत से भिन्न है, और स्थायी-विषयात्मक-अस्तित्व रखता है। इस संसार के नियम नाटक के नियमों से भिन्न है; इसमें सुख, दुख और सफलता के साधन भी भिन्न हैं।

यह साधारण पुरुष का विचार है। दार्शनिक इससे आगे जाता है और पूछता है: "क्या यह दूसरी सृष्टि, जिसे हम नाटक की सृष्टि से भिन्न समझते हैं, वास्तव में नित्य और स्थायी है ? यह भी एक दूसरे प्रकार की नाटकीय सृष्टि तो नहीं है ?" दार्शनिक विचार हमारे मन में सन्देह उत्पन्न कर देता है, और वहुधा मनुष्य इस दशा में इसी परिणाम पर पहुंचता है कि यह बाहरी सृष्टि भी नाटकीय सृष्टि है। हमारे सब सुख–दुख इसी कारण से होते हैं कि हम अपने आपको साँसरिक पदार्थों के साथ जोड़ कर उनका रूप ही बना लेते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि इस बड़े नाटक-घर से भी बाहर निकलें, उसके दृश्यों के वास्तविक स्वरूप को जानें, और इस एकता के सम्बन्ध को, जिसने हमें सुख-दुख के सागर में डुबो दिया है, तोड़ दें। इससे अपने आपको पृथक कर लें। इस प्रकार अपने आपको अलग कर लेना ही वास्तव में वृत्तियों को रोकना है। ऐसा करने के पश्चात् हम अपने वास्तविक स्वरूप को देखेंगे, इसमें आनन्द अनुभव करेंगे। एक पग और आगे चलना होगा और वह यह कि हम अपने आपको परमात्मा में विलीन कर देंगे। यह हमारी यात्रा का अन्तिम पड़ाव है।

योग का उद्देश्य इस पथ पर चलते हुए, इसके गंतव्य तक पहुँचना है। योग शब्द को भाष्यकारों ने 'वियोग', 'उद्योग' और 'संयोग' के अर्थों में लिया हैं। कुछ कहते हैं कि योग आत्मा और प्रकृति के वियोग का नाम है। कुछ कहते हैं कि यह एक विशेष उद्योग अथवा यत्न का नाम है, जिसकी सहायता से आत्मा अपने आप को उन्नति के शिखर पर ले जाता है। कुछ कहते हैं कि योग ईश्वर और जीव के संयोग का नाम है। सच तो यह है कि योग में यह तीनों अङ्ग सम्मिलत हैं। अन्तिम उद्देश्य संयोग है; उसके लिए उद्योग की आवश्यकता है, और इस उद्योग का स्वरूप ही यह है कि प्रकृति से वियोग किया जाय।

योग दर्शन में बताया गया है कि जब तक आत्मा सांसारिक पदार्थों में आसक्त रहता है, अपने आप को उनमें लीन किये रहता है, उस समय तक उसे सुख-दुख होता है। आत्मा और प्रकृति का संयोग ही क्लेशों का कारण है। जिन अवस्थाओं को यह सुख समझता है, वे भी वास्तव में दुख हैं। उन्हें प्राप्त करने में दुख होता है, उन्हें संभाले रखने में दुख होता है; जब वे चली जाती हैं, तब दुख होता है, और उनकी स्मृति दुख का कारण होती है। चित्त की वृत्तियों को, जो इस संयोग से उत्पन्न होती हैं, रोक दिया जाय, तो आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है, और क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

२—वृत्तियों का वर्णन

'वृत्तियां पांच हैं, और वे क्लिष्ट और अक्लिष्ट हैं:—प्रमाण, विपर्य्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।' (५–६)

१. प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) तीन प्रकार का है :—

प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द।'

प्रत्यक्ष; जो कुछ ज्ञान-इन्द्रियों की सहायता से जाना जाये, सत्य ज्ञान जो किसी पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को बताता है।

अनुमान; कारण से कार्य और कार्य से कारण का ज्ञान। पृथ्वी गोल है। समस्त पृथ्वी को हम एक साथ देखते नहीं, परन्तु ऐसी सत्य

घटनाओं को जानते हैं, जिनसे पृथ्वी के गोल होने का अनुमान कर लेते हैं। विज्ञान का बहुत बड़ा भाग अनुमान ही है।

आगम; वह ज्ञान जिसे हम दूसरे के कहने पर सत्य स्वीकार करते हैं। इतिहास में जो कुछ लिखा है, उसे हमने देखा नहीं, न उस का अनुमान किया, परन्तु दूसरों के कथन को मान लिया है। विशेष अर्थों में श्रुति की शिक्षा को आगम कहा गया है। जो कुछ वेद में कहा है, वह मानने के योग्य है। इसका अर्थ यह है कि हम अपने सम्पूर्ण ज्ञान को प्रत्यक्ष और अनुमान की सीमा में बन्द नहीं कर सकते। बहुत सी बातें ऐसी हैं जो इन दोनों की पहुँच से बाहर हैं।

विपर्ययः 'विपर्यय वह मिथ्या-ज्ञान है, जो वस्तु के यथार्थ रूप को नहीं, अपितु उससे उलटे रूप को दर्शाता है'।

दूर से चमकते हुए रेत को हम पानी की नदी समझते हैं, वृक्ष के तने को देख कर डाकू की भावना करते हैं।

विकल्पः—'विकल्प वह ज्ञान है जो वस्तु के अभाव में शब्दों पर आश्रित होता है'

गणित का ज्ञान इस प्रकार का ज्ञान है। उसमें सीधी रेखा त्रिभुज और वृत्तों के सम्बन्ध में विचार किया जाता है, परन्तु सीधी रेखा, त्रिभुज और वृत्तों का जो वास्तविक अर्थ है, उसके अनुरूप कोई पदार्थ संसार में उपस्थित नहीं है। कोई रेखा पूर्णतया सरल रेखा नहीं होती, कोई त्रिकोण पूर्णतया अपनी परिभाषा के अनुसार पूरा नहीं उतरता। बुद्धि कुछ धारणायें निश्चित करती हैं, उन्हें विशेष नाम देती हैं, और उनके सम्बन्ध में पुनः विचार करती हैं।

४. निद्रा, अभाव की प्रतीक का आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा है।'

निद्रा से तात्पर्य स्वप्न है। स्वप्न में वे पदार्थ जिनका वास्तविक अस्तित्व कुछ नहीं है, सत्य प्रतीत होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मैं मित्र से बात कर रहा हूँ, उसके साथ हँसता खेलता हूँ। सत्य यह होता

है कि उस समय मेरा मित्र यहाँ होता ही नहीं । मेरी कल्पना यह खेल रचती है ।

५—स्मृति:–'अनुभूत विषय का खोया न जाना स्मृति है' ।

स्मृति में पिछले अनुभव फिर चित्त में आते हैं । स्मृति का सम्बन्ध भूत काल से है । वर्तमान या भविष्य की घटनाओं को याद करना निरर्थक शब्द है । स्मृति पिछले अनुभवों को ज्यों का त्यों हमारे सामने रख देने का यत्न करती है और स्मृति के साथ यह विश्वास भी सम्मिलित होता है । वास्तव में स्मृति कई बातों को छोड़ देती है, कई ऐसी बातें मिला देती है, जो हुई ही नहीं, परन्तु बहुत सीमा तक इसका दिया हुआ ज्ञान यथार्थ होता है । और प्रत्येक दशा में स्मृति काल में हम उसे यथार्थ ही स्वीकार करते हैं । निद्रा की अवस्था में जो ज्ञान होता है, उसे भी हम निद्रा की अवस्था में यथार्थ ही मानते हैं, परन्तु जाग्रत में आते ही अपनी सम्मति बदल देते हैं । स्मृति का आधार यथार्थ ज्ञान (प्रमाण) पर होता है । निद्रा ऐसे ज्ञान में परिवर्तन करती है:—एक अङ्ग यहाँ से लेती है, दूसरा वहाँ से, और उनको सम्मिलित करके नया पदार्थ बना देती है ।

३—वृत्तियों का निरोध कैसे हो सकता है ?

'वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है ।'

'अभ्यास उस यत्न का नाम है, जो चित्त को परमात्मा में स्थिर करने के लिये किया जाता है । अभ्यास की दृढ़ भूमि बनाने के लिये यह बातें आवश्यक हैं:—

यह देर तक किया जाय ।

इसके करने में बाधा न हो, यह निरन्तर हो ।

यह सत्कार या श्रद्धा से किया जाय ।' (१३–१४)

यहाँ "अभ्यास" एक विशेष अर्थ में लिया गया है, परन्तु जो कुछ इसे दृढ़ भूमि बनाने के लिये कहा गया है, वह हर प्रकार के अभ्यास के लिये कहा जा सकता है । मनुष्य संस्कारों का समूह है । एक प्रकार की

नहीं, तो दूसरे प्रकार की आदतें उसकी अवश्य बनेंगी । अच्छी शिक्षा का उद्देश्य यह है कि वह प्रत्येक को अच्छी आदतें बनाने में सहायता दे । किसी आदत को बनाने के लिये आवश्यक है कि उसके लिये उस समय तक यत्न किया जाये, जब तक वह बन न जाये । कोई मनुष्य एक दिन में रागी नहीं बन सकता, कोई मनुष्य एक दिन में समय पर कार्य करने का स्वभाव नहीं बना सकता । इसके लिये पर्याप्त समय चाहिये । यह भी आवश्यक है कि जब तक आदत न बन जाय, तब तक कोई अपवाद न होने दिया जाय । एक दिन के अपवाद से दस दिन का फल नष्ट हो जाता है। तीसरी बात जिस पर बल दिया गया है, यह है कि अभ्यास सत्कार अथवा श्रद्धा से किया जाये । दूसरे की आज्ञा से कोई पुरुष सत्स्वभाव नहीं बना सकता । जब तक वह आप इनके मूल्य में विश्वास नहीं करता और उनके बनाने के लिये सम्पूर्ण हृदय से यत्न नहीं करता, उसका यत्न सफल नहीं हो सकता ।

'जिस मनुष्य ने इस जन्म और आने वाले जन्मों की तृष्णाओं को छोड दिया है, उसका संयम वैराग्य कहलाता है ।

'परमात्मा के दर्शन से प्रकृति के गुणों में तृष्णा का मिट जाना उत्तम वैराग्य है ।'

(१५–१६)

वैराग्य का अर्थ राग से मुक्त होना है । इस संसार के पदार्थों में मन लगा हो, तो वास्तविक सुख मिल नहीं सकता । जो पुरुष भविष्य जन्म के भोगों के लिये तरस रहा है, वह भी मजदूर की भाँति अपना काम कर रहा है । धर्म का फल आनन्द तो होता है, परन्तु जो पुरुष इस आनन्द को मुख्य समझ कर धर्म करता है, वह इन दोनों का मूल्य लगाने में भूल करता है । कर्त्तव्य को इसी विचार से करना चाहिए कि वह कर्तव्य है । ऐसा करना वैराग्य है । यह आचार का बहुत ऊँचा दरजा है । इससे भी

ऊँची अवस्था यह है कि मनुष्य परमात्मा के दर्शन के लिए यत्न करे। जब यह दर्शन हो जाता है, तब पदार्थों का राग स्वयं ही समाप्त हो जाता है। यह वैराग्य निष्काम कर्म से उत्पन्न वैराग्य से भी उत्तम वैराग्य है।

४–ईश्वर और ईश्वर भक्ति का फल

'क्लेश, कर्म, कर्मफल और वासनाओं से न छूआ हुआ पुरुष विशेष (जीव से विशेष अलग) ईश्वर है।

ईश्वर में सर्वज्ञता सम्पूर्ण है। (उसके ज्ञान में कोई बढ़ती नहीं हो सकती)।

ईश्वर काल को सीमा से परे है। अतएव पहले के आचार्यों का गुरू है। सम्पूर्ण सत्य ज्ञान, अन्त में, इसका ही दिया हुआ है।

ओ३म उसका नाम है।

ओ३म् का जाप और उसके अर्थ का चिन्तन करना भक्ति है।

इसके जाप तथा चिन्तन से आत्मज्ञान होता है, और विघ्नों का अभाव हो जाता है।

विघ्न यह हैं:–

राग–(पदार्थों में अनुचित स्नेह), कर्म करने में अरुचि, संशय, प्रमाद (योगसाधन की ओर से असावधानी), आलस्य, तृष्णा, मिथ्या–ज्ञान, समाधि अवस्था तक न पहुंचना, इस अवस्था में पहुंच कर वहां स्थिर न रहना।

इन विघ्नों के साथ निम्नलिखित त्रुटियां भी होती हैं:–

दुख, इच्छा पूरी न होने से अप्रसन्न होना, शरीर के अङ्गों का

---

१ सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सब का आदिमूल परमेश्वर है।

(आर्य समाज का पहला नियम)

कांपना, श्वास प्रश्वास (इच्छा के विरुद्ध प्राण का बाहर आना और भीतर जाना)। (२४-३१)

५--चित्त की निर्मलता और एकाग्रता कैसे प्राप्त हो सकती है ?

'सुखी पुरुषों के साथ मित्रता करने, दुखी पुरुषों पर दया करने, धर्मात्मा पुरुषों के सम्बन्ध में प्रसन्नता, और पापी पुरुषों की ओर ध्यान न देने से चित्त की निर्मलता होती है।

प्राणायाम से चित्त एकाग्र होता है।

अथवा दिव्य विषयों वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिरता को बांधती है ।

धर्म का निरन्तर विचार करने से, मन को एकाग्रता प्राप्त होती है ।

अथवा शोक से रहित प्रकाशवान् वृत्ति चित्त को एकाग्र करती है।

अथवा विषयों के मोह से मुक्त होकर चित्त एकाग्रता ग्रहण करता हैं।

अथवा स्वप्न के समान किम्वा निद्रा के समान ज्ञान का आश्रय करने वाला चित्त, एकाग्र होता है ।

अथवा जो कुछ किसी व्यक्ति की रूचि के अनुकूल है, उस पर ध्यान लगाने से मन स्थिर हो जाता है।

परमाणु से लेकर महानतम पदार्थ तक मन के वश करने का स्थान है।

(छोटे या बड़े किसी पदार्थ को भी मन की स्थिरता के वश के लिये साधन बनाया जा सकता है।).,

(३०-४०)

(ख) 'साधनपाद'

२—कर्मयोग और उसका फल

'तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति—यह कर्मयोग है।'

'क्लेश पांच हैं:—१. अविद्या, २. अस्मिता, ३. राग, ४. द्वेष, ५. अभिनिवेश (मृत्यु भय)।

'सोये हुये, निर्बल, समाप्त हो चुके हुए, और वर्तमान अस्मिता आदि चार क्लेशों का क्षेत्र अविद्या है।' (३–४)

क्लेश का अर्थ दुख किया जाता है, परन्तु दुख क्लेशों में से एक है। क्लेश का विस्तृत अर्थ बुराई (बदी) है। प्राचीन यूनान के दार्शनिकों ने अच्छे शील या चरित्र के चार प्रधान चिह्न कहे हैं : विद्या या बुद्धि, साहस (दिलेरी), संयम और न्याय। बाकी सद्गुणों का इनके साथ सम्बन्ध हैं। इनके विपरीत चिह्न आचार के दोष हैं। विद्या या बुद्धि का अभाव अविद्या है, साहस का अभाव कायरता है। सारी कायरता अन्त में मृत्यु का भय (अभिनिवेश) ही है। संयम का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने जीवन में एक-रसता स्थिर रक्खे; वर्तमान में जो वासनायें उत्पन्न होती हैं, उन्हीं में डूब न जाय; उनसे अपने आपको अलग रक्खे। तब ही वह इन वासनाओं की जांच पड़ताल कर सकता है और आवश्यक होने पर उनको दबा सकता है। यदि वह अपने आपको वर्तमान क्षण के विचार के साथ सम्पूर्णतया मिला दे, इन दोनों को एक ही समझे, तो वह संयम को स्थिर नहीं रख सकता और उसके जीवन में एकता नहीं रह सकती। समता के अभाव से ही संयम का अभाव होता है। इसी को योग दर्शन में अस्मिता कहा गया है। दूसरों के साथ व्यवहार करने में हमें न्याय का आचरण करना चाहिए। न्याय का आधार इस भाव पर है

कि मानवता के विचार से सब मनुष्य समान हैं। प्रति व्यक्ति एक है, कोई एक से अधिक या न्यून नहीं। अपने व्यवहार में हम इस नियम को नहीं बरतते, इसका कारण राग द्वेष ही हैं। हम कुछ लोगों से स्नेह करते हैं और कुछ लोगों से द्वेष। राग और द्वेष न्याय के प्रतिकूल हैं। अफलातून ने मुख्य सद्गुणों का वर्णन किया है, योग दर्शन में दोषों का वर्णन आया है; परन्तु दोनों विचारों का परिणाम एक ही है।

योग दर्शन में कहा गया है कि इन पांच क्लेशों में अविद्या का स्थान विशेष है। यह दूसरे क्लेशों का क्षेत्र है, वे अविद्या पर ही निर्भर हैं। अविद्या न हो, तो वे फल फूल नहीं सकते। अविद्या में फँस कर अपने आप को वर्तमान वृत्ति ही समझ लेना अस्मिता है। राग द्वेष मनुष्य को मनुष्य न समझने का फल है। भय अविनाशी आत्मा को तो होना ही नहीं चाहिए; भय मनुष्य को उसी समय होता है जब अविद्या के कारण वह यह समझ लेता है कि कोई दूसरा उसका हनन कर सकता है। जिसने आत्मा के स्वरूप को जान लिया है, उसे भय किस वस्तु का हो सकता है? वह अनुभव करता है कि आत्मा को तलवार काट नहीं सकती, आग जला नहीं सकती, पानी गला नहीं सकता।

'अविद्या—अनित्य को नित्य समझना, बुराई को भलाई समझना, दुख को सुख समझना और जड़ पदार्थ को आत्मा समझना अविद्या है।'

'अस्मिता—द्रष्टा और दर्शन की सहायता देने वाली बुद्धि—इन दोनों को एक समझना अस्मिता है।'

किसी विशेष पदार्थ का ज्ञान उस समय की अवस्था पर निर्भर होता है। वह अवस्था कई कारणों से बदलती रहती है। द्रष्टा की स्थिति में आत्मा इन सब अवस्थाओं से पृथक् है। इन सबको देखता है, इनकी जांच करता है, और इनके सम्बन्ध में निश्चय करता है। आत्मा का अपने आपको किसी विशेष अवस्था का रूप ही समझ लेना अस्मिता है।

'सुख के साथ मिला हुआ राग है।'

जिस पदार्थ से सुख मिले उसके लिये राग हो जाता है।

'दुख के साथ मिला हुआ द्वेष है।'

'जो भय सबको स्वभाव से है, (साधारण पुरुषों की तरह) विद्वानों की दशा में भी प्रसिद्ध है, वह 'मृत्यु का भय' अभिनिवेश कहलाता है।'

प्रत्येक प्राणी की चेष्टा होती है कि वह अपने जीवन को स्थिर रक्खे। जब उस पर कोई प्रहार होता है, तो वह उससे अपने आपको बचाने का यत्न करता है। सारे भय, अन्त में मृत्यु भय के ही आकार हैं।

'द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य (जो कुछ देखा जाता है, संसार) का संयोग ही दुख का कारण है।' (१०)

"उस संयोग का कारण अविद्या है।" (२४)

"स्थिर विवेक (ज्ञान) क्लेशों से छूटने का उपाय है।"

'योग के आठ अङ्गों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि नष्ट हो जाती है।'

'और इससे पूर्ण विवेक की प्राप्ति तक ज्ञान का प्रकाश बढ़ता जाता है।" (२८)

७—योग के अङ्ग

योग के आठ अङ्ग हैं:—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान और समाधि।

१ यम और नियम

अहिंसा (बैर त्याग), सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह (भोगों की हर ओर से सामग्री को इकट्ठा करने की चेष्टा से बचना), जाति,

काल, देश ग्रौर समय कुछ हो, प्रत्येक दशा में यमों पर ग्राचरण करना महाव्रत है ।

'शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय ग्रौर ईश्वर प्रणिधान नियम हैं ।'

(३०–३२)

मनुष्य के जीवन को भागों में तोड़ फोड़ नहीं सकते । जीवन का प्रधान चिह्न एकता है, तो भी उसके भिन्न भिन्न आकारों को ग्रलग ग्रलग चिन्तन का विषय बना सकते हैं । इस प्रकार मनुष्य जीवन के शुभ गुणों को व्यक्तिगत और सामाजिक सद्गुण की दृष्टि से देखा जा सकता है । यम सामाजिक सद्गुण है और नियम व्यक्तिगत सद्गुण । सामाजिक सद्गुण यही है कि हम दूसरों के ग्रधिकारों का मान करें, आप जियें ग्रौर दूसरों को जीने दें ।

यदि हम इससे परे नहीं जा सकते, तो इतना तो अवश्य करें । यह अहिंसा है । समाज का संगठन इस बात पर निर्भर है कि एक मनुष्य दूसरे के कथन पर विश्वास कर सके, प्रतिज्ञा या इकरार की पवित्रता को स्वीकार किया जाये । यह सत्य है । जीवन के लिये जीवन की सामग्री की ग्रावश्यकता है । उसे प्रत्येक पुरुष ग्रपने लिये आप कमाता है । यदि वह उसे ग्रपने लाभ या सुख के लिये बरत नहीं सकता, तो उसका परिश्रम व्यर्थ है । समाज में प्रत्येक का धर्म है कि दूसरों के अधिकारों का मान करे । यह अस्तेय (चोरी न करना) है । ब्रह्मचर्य को यमों में गिना गया है । जो पुरुष दुराचारी है, वह ग्रपनी हानि तो करता ही है, परन्तु इससे ग्रधिक दूसरों की हानि करता है, उनकी मर्य्यादा को मिट्टी में मिला देता है । वह समाज को हानि पहुँचाता है, क्योंकि सामाजिक जीवन का आधार पारिवारिक ग्राचरण की पवित्रता पर है । अपरिग्रह का अर्थ यह है कि मनुष्य जीवन की सामग्री में अपने भाग्य पर सन्तोष करे । आप जीवित रहे और दूसरों को जीने दे ।

जीवन के नियमों में बहुत से नियम ऐसे होते हैं, जो सब मनुष्यों पर प्रत्येक अवस्था में लागू नहीं होते। जो मनुष्य वैद्य बनना चाहता है, उसके लिये विशेष शिक्षा और विशेष प्रकार के जीवन की आवश्यकता है। वैद्य बन जाने में इन नियमों में परिवर्तन होता है। इसी प्रकार के भेद जाति, देश, काल और समय के भेद हैं। परन्तु यमों के सम्बन्ध में कहा गया है कि इन पर सब मनुष्यों को प्रत्येक दशा में आचरण करना चाहिए। ऐसा आचरण करना महाव्रत है।

व्यक्तिगत जीवन में हमारा उद्देश्य यह है कि हम अपनी शक्तियों का पूर्ण विकास करें, अपने आपको, इतना ऊंचा ले जायँ जितना ले जा सकते हैं। व्यक्तिगत जीवन के दो भाग हैं: प्राकृतिक और आत्मिक। शरीर के सम्बन्ध में सबसे उत्तम वस्तु स्वास्थ्य है। स्वास्थ्य का आधार वाह्य अथवा अन्तः पवित्रता या शौच है। आत्मिक जीवन में ज्ञान, कर्म और सुख–दुख का अनुभव तीन अंश है। ज्ञान के लिए, स्वाध्याय उत्तम साधन है। शक्ति के वृद्धि के लिए तप उत्तम साधन है। सुख प्राप्ति के लिए, पदार्थों के पीछे पागल की भांति भागना इतना ही सफल हो सकता है, जितना घी के छीटों से अग्नि को बुझाना। घी के छीटों से अग्नि और भी प्रचण्ड होती है; बुझती नहीं।

सुख के साधन ये है:—मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को सीमित करे, इन सीमित आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये पूर्ण यत्न करे, और जो कुछ इस यत्न का फल हो, उसे हर्ष से स्वीकार करे। यह संतोष है। सन्तोष, तप, स्वाध्याय मनुष्य के निज जीवन के बहुमूल्य चिन्ह है। परन्तु मनुष्य का सम्बन्ध केवल इस संसार या दूसरे मनुष्यों से ही नही, उसका सम्बन्ध परमात्मा से भी है। धार्मिक जीवन का प्राण ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर पर भरोसा करना है। ईश्वर प्रणिधान हमारे आचार को नये रंग में रंग देता है। यह नियमों में सर्वोत्तम है।

२. आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार।

'आसन उस बैठक का नाम है, जिसमें स्थिर सुख हो'। (४६)

'आसन के सिद्ध हो जाने पर द्वन्द्वों (सर्दी, गर्मी, सुख, दुख) की चोटें नहीं लगतीं।' (४८)

'आसन के सिद्ध होने पर प्राणायाम सधता है। प्राणायाम अन्दर आने वाली और बाहर जाने वाली वायु को रोकना है।'

(अ) प्राणायाम तीन प्रकार का हैं:--

वाह्यवृत्ति (जिसमें वायु को बाहर फेंक कर रोका जाता है।)

अभ्यन्तप वृत्ति (जिसमें वायु को अन्दर खींच कर रोक लिया जाता हैं।)

स्तम्भवृत्ति (वायु जहां है, वहीं उसे रोक दिया जाता है।)

(आ) देश, काल और संख्या की अपेक्षा से प्राणायाम भिन्न-भिन्न जाना जाता हैं। (भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है)।

(इ) प्राणायाम लम्बा और सूक्ष्म हैं।

'विवेक (ज्ञान) पर जो पर्दा पड़ा है, वह प्राणायाम से दूर हो जाता है और धारणाओं में मन की योग्यता होती है।'

'अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न रहने से, इन्द्रियों का चित्तस्वरूप सा हो जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण विजय हो जाती है।'

३. धारणा, ध्यान और समाधि।†

'चित्त का किसी एक देश (स्थान) में बांधना धारणा है।

इस स्थान में वृत्ति की एकाग्रता ध्यान हैं।

---

† धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन विभूतिपाद में किया गया है, परन्तु साधन होने से इनको साधनपाद का ही भाग समझना चाहिये।

'जब ध्यान में केवल अर्थ भासता है और उसका अपना स्वरूप शून्य हो जाता है, तो उसे समाधि कहते हैं ।'

जब निशाना लगाने वाला अपने आपको, तीर को, और कमान को भूल जाता है, और उसका ज्ञान केवल उस पदार्थ तक सीमित हो जाता है, जिस पर उसे तीर फेंकना है, तब वह ठीक निशाना लगा सकता है। समाधि का अर्थ यह है कि मनुष्य अपने आपको और अपनी सारी वृत्तियों को भूल जाय और केवल ईश्वर का ध्यान करे। उसी का ज्ञान उसे रह जाय और बस ।

'धारणा, ध्यान और समाधि का एक होना संयम कहलाता है ।'

'संयम सिद्ध हो जाने पर प्रज्ञा (सर्वोत्तम बुद्धि) का प्रकाश होता है ।'

योग की भूमियों में क्रम से धीरे-धीरे संयम की स्थिरता करनी चाहिए ।' (१-४)

अध्याय ५

भगवद्गीता

१—कुलधर्म

'कुल के नाश होने से कुल का सनातन धर्म नष्ट हो जाता है। कुल धर्म नष्ट होने से अधर्म कुल को अपने पंजे में पकड़ लेता है।' (१:४०)

'अधर्म की वृद्धि से कुल की स्त्रियों का आचार बिगड़ जाता है। ऐसी दुराचारी स्त्रियों की सन्तान वर्णशंकर होती हैं।' (१:४१)

'कुल का नाश करने वाले ऐसे वर्णशंकर पैदा करने वालों के दोष से जाति-धर्म और कुल-धर्म नाश हो जाते हैं।' (१:४३)

'जिन लोगों का कुल-धर्म इस प्रकार नष्ट हो जाता है, उनका वास नरक में होता है।' (१४:४)

२—आत्मा नित्य है

'जिस प्रकार प्राणी को इस शरीर में लड़कपन, यौवन और बुढ़ापा प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार मृत्यु के उपरान्त उसे अन्य शरीरों की प्राप्ति होती है। उसके सम्बन्ध में बुद्धिमान पुरुष को शोक नहीं होता' (२:१३)

'जिस पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं, उसको सत्ता प्राप्त नहीं हो सकती; और जो कुछ वास्तव में है, उसका नाश नहीं हो सकता। तत्व के ज्ञाता, ज्ञानी पुरुषों ने यही दोनों में भेद देखा है।' (२:१६)

'कोई आत्मा को मारने वाला बताता है, कोई समझता है कि यह मारा जाता है। यह दोनों अज्ञानी हैं। आत्मा न मारता है, न मरता है।' (२:१९)

'यह आत्मा न कभी पैदा होता है, न कभी मरता है, ऐसा भी नहीं कि पैदा भी हो और फिर मर भी जाय। यह अजन्मा है, अनादि है, शरीर के टूट-फूट जाने पर भी इसका नाश नहीं होता।' (२:२०)

"जैसे मनुष्य पुराने वस्त्र उतार कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर को ग्रहण करता है।" (२:२२)

'आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न आग जला सकती है, न पानी उसे गीला कर सकता है, न वायु उसे सुखा सकती है।' (२:२६)

'जो उत्पन्न हुआ है, उसे मरना अवश्य है। जो मरता है, उसके लिये पुनर्जन्म अवश्य है। जब यह होना ही है, तब उसके लिये शोक करना व्यर्थ है।" (२:२७)

३—आत्मा की उन्नति और अवनति

'जैसे कछुआ अपने अङ्गो को अपने अन्दर समेट लेता है, वैसे ही इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेने पर, मनुष्य की बुद्धि स्थिर हो जाती है।' (२:५९)

'इन्द्रियों को विषयों से हटा लेने से विषय तो दूर हो जाते हैं, परन्तु इनका रस (राग) बना रहता है। यह रस तो तभी दूर हो सकता है, जब मनुष्य परमात्मा का दर्शन कर लेता है।' (२:५९)

४—कर्मयोग

'कोई भी प्राणी क्षण भर के लिये भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों से विवश होकर सबको कर्म करना ही पड़ता है।' (३:५)

'जो कर्म तुम्हारे लिये निश्चित है, उसे करो। कर्म न करने से कर्म करना श्रेष्ट है। कर्म न करने से शरीर का स्वास्थ्य भी स्थिर नहीं रह सकता।' (३:८)

'यज्ञ के लिये किये हुए कर्मों को छोड़कर दूसरे कर्म बन्धन का कारण हैं। आसक्ति या मोह छोड़ कर कर्म करो।' (३:९)

'यज्ञ से बचे हुए भाग का सेवन करने वाले पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। जो पुरुष केवल अपने लिये पकाते हैं, वह पापी, पाप रूप भोजन करते हैं।' (३:१३)

'आसक्ति रहित होकर सदा कर्तव्य कर्म करो। जो पुरुष इस भाव से कर्म करता है, यह परमात्मा को प्राप्त होता है।' (३:१९)

'जिस कर्म को महान् पुरुष करते हैं, साधारण पुरुष उसी का अनुकरण करते हैं। जिस बात को वे प्रमाण मानते हैं, या जिस बात की वे प्रतिष्ठा करते हैं, लोग उसी के पीछे चल पड़ते हैं।' (३:२१)

'अपना कर्तव्य पालन करना श्रेष्ठ है, चाहे वह कर्तव्य, दूसरों के कर्तव्य की अपेक्षा बहुत उच्चकोटि का न हो। अपना कर्तव्य करते हुए अपना जीवन व्यतीत कर देना अच्छा है। दूसरे के कर्तव्य को अपना लेना भय का कारण है।' (३:३५)

५—ज्ञान और कर्म

'जो पुरुष कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वह मनुष्यों में बुद्धिमान है। वह योगी सम्पूर्ण कर्मों का करने वाला है।' (४:१८)

जो पुरुष निष्काम भाव से कर्म करता है, वह बन्धन से मुक्त रहता है। उसके सम्बन्ध में कह सकते हैं कि वह कुछ करता ही नहीं। उसके कर्म अकर्म ही हैं। ऐसा पुरुष जब दूसरों की दृष्टि में कुछ नहीं करता, तो भी वह वास्तव में कुछ करता ही है। लालटेन जलती है, तो उसके परिश्रम के बिना ही ज्योति उसके चारों ओर फैल जाती है; उसके लिये प्रकाशित होना और प्रकाश फैलाना एक ही बात है। इसी प्रकार योगी पुरुष अपने स्थान पर बैठा हुआ दूसरों के जीवन को पवित्र करता है। उसका अकर्म भी कर्म है।

'जिस मनुष्य के सम्पूर्ण कर्म इच्छा और संकल्प से रहित हैं, जिसने ज्ञानरूपी अग्नि से कर्मों को जला दिया है, वह ज्ञानी पुरुषों की दृष्टि में पण्डित है ।' ४:१९)

जो पुरुष कर्म-फल और आसक्ति को त्याग कर सदा तृप्त रहता है और किसी का सहारा ग्रहण नहीं करता (किसी की सहायता पर निर्भर नहीं, अर्थात् स्वतन्त्र है), वह कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता ।' (उसके कर्म को भी अकर्म समझना चाहिये ।) (४:२०)

'जिसने आशायें छोड़ दी हैं, चित्त और आत्मा को वश में कर लिया है, और सारी भोग सामग्री से मुख मोड़ लिया है, ऐसा पुरुष शरीर से कर्म करता हुआ भी पाप से बचा रहता है ।' (४:२१)

'जिस प्रकार प्रचण्ड अग्नि ईंधन को जला देती हैं, वैसे ही ज्ञान रूपी अग्नि सब कामों को भस्म कर देती है ।' (४:३७)

'जिस पुरुष में श्रद्धा हो, जिसने मन और इन्द्रियों को वश में कर लिया हो, वही ज्ञान को प्राप्त करता है । ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही शान्ति की अवस्था में पहुँच जाता है । (४:३९)

'जिस पुरुष ने ज्ञान प्राप्ति नहीं की, जो श्रद्धा से रहित है, जिसके मस्तिष्क में संशय भरे हैं, वह नाश हो जाता है । संशयात्मा पुरुष के लिये न सुख है, न यह लोक है, न परलोक है ।' (४:४०)

'जो पुरुष योग के द्वारा कर्म बन्धन से मुक्त हो गया है, जिसने ज्ञान के द्वारा सारे संशयों को छिन्न भिन्न कर दिया है, ऐसे धार्मिक पुरुष को कर्म नहीं बाँधते ।' (४:४१)

६—अवनति का मार्ग

'विषयों का चिन्तन करने से उनमें प्रेम पैदा होता है, प्रेम से काम उत्पन्न होता है, काम से (काम के मार्ग में बाधा पड़ने से) क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोध से मोह उत्पन्न होता है, और मोह से स्मृति भ्रष्ट हो जाती है । इससे बुद्धि का नाश हो जाता है। जब बुद्धि नष्ट हो गई, तो यह समझ लो कि मनुष्य का अन्त हो गया ।' (४:६२–६३)

७—योगी के लक्षण

'सांख्य और योग (ज्ञान और कर्म) को मूर्ख लोग अलग अलग बतलाते हैं, विद्वान् नहीं। इनमें से एक में भी स्थित हुआ पुरुष दोनों के फल को प्राप्त करता है।' (५:४)

'सांख्य (ज्ञान-योग) द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, वही कर्म-योग द्वारा भी प्राप्त होता है। जो पुरुष इस प्रकार दोनों की एकता देखता है, वही वास्तव में देखने वाला है।' (५:१०)

'जो पुरुष सब कर्मों को ब्रह्म में अर्पण करके और आसक्ति का त्याग करके कर्म करता है, वह पाप से इसी प्रकार मुक्त रहता है, जैसे कमल का पत्ता पानी के प्रभाव से बचा रहता है।' (५:१०)

'योगी पुरुष आत्मा शुद्धि के लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियों से भी कर्म करते हैं; परन्तु वे इन कर्मों को आसक्ति से बचकर करते हैं।' (५:१३)

'योगी कर्म फल को छोड़ कर पूर्ण शांति प्राप्त करते हैं। जो पुरुष फल की कामना से कर्म करते हैं, वे इस कामना के कारण, बन्धन में पड़ते हैं।' (५:१२)

'जो पुरुष शरीर का नाश होने के पहले (जीवन में ही) काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सहन कर सकते हैं, वे हीं योगी और सुखी हैं।' (५–२३)

'वह पुरुष जो अन्दर से सुखी है, (जिसके सुखों का स्रोत आत्मिक है), जो अन्दर ही रमण करने वाला है (जो अपना समय ज्ञान ध्यान में ही व्यय करता है), और अन्दर ही प्रकाश से युक्त है। वह योगी बहुत श्रेष्ठ निर्वाण अवस्था को प्राप्त करता है।' (५:२४)

'जिनके सब पाप नष्ट हो गये हैं, संशय छिन्न भिन्न हो गए हैं, ऐसे संयमी पुरुष ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त करते हैं।' (५:२५)

"काम क्रोध से रहित, चिन्ता को वश में किये हुये, आत्म-ज्ञानी यती पुरुषों के चारों ओर निर्वाण ही विद्यमान रहता है।' (५:२६)

८—अपने भाग्य का बनाना बिगाड़ना हमारे हाथ में ही है।

'मनुष्य को चाहिये कि अपने यत्न से ही अपना उद्धार करे; आत्मा को अधोगति में न पहुंचाये। आत्मा आप ही अपना मित्र है, और आप ही अपना शत्रु है।' (अपने भाग्य का बनाना बिगाड़ना मनुष्य के अपने हाथ में है।)

'जिस मनुष्य ने अपने आपपको जीत लिया है, वह अपना बन्धु (मित्र) है; परन्तु जिसने अपने आप पर विजय प्राप्त नहीं की है, वह अपना शत्रु है।'

'जिस मनुष्य ने अपने ऊपर विजय प्राप्त करली है और जो विशेष रूप से शांत है, ऐसे पुरुष के अन्दर परमात्मा एक रस उपस्थित रहता है। सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख, मान, अपमान का प्रभाव उस पर कुछ नहीं होता।'

'जिस मनुष्य का अन्तःकरण ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो उदासीन है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ली है, और जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और सोना एक जैसे हैं, उस योगी को युक्त कहते हैं।' (६:५–९)

९—शान्ति का उपाय

'अभ्यास से ज्ञान उत्तम है; ज्ञान से ध्यान उत्तम है; ध्यान से भी बढ़ कर कर्मफल का त्याग है। जब यह त्याग जीवन में आ जाये, तो तत्काल शान्ति प्राप्त हो जाती है। (१२:१२)

'मनुष्य सांसारिक पदार्थों के पीछे भटकते रहते हैं, परन्तु उनमें से एक मिलता है और दूसरे के लिये दौड़ना आरम्भ हो जाता है। इस दौड़ से मनुष्य तङ्ग आ जाता है और जानने लगता है, कि यह तो ठीक मार्ग नहीं।

वह शांति की खोज करने लगता है। शाँति की खोज कैसे की जाती है ? बहुतेरे लोग अभ्यास (तपस्या) को साधन बनाते हैं। साधारण साधु इस श्रेणी में हैं। कोई ज्ञान को साधन बनाते हैं, और उसके लिए अपना समय धार्मिक पुस्तकों के स्वाध्याय में लगाते हैं। कई तपस्या और ज्ञान के स्थान में ध्यान को मुख्य साधन बनाते हैं। ज्ञान दार्शनिक विवेचन या विवेक है; ध्यान योग की क्रिया है। गीता के इस श्लोक में कहा गया है कि शांति का सबसे अच्छा उपाय यह है कि मनुष्य अपने आप को कर्म क्षेत्र में रक्खे, अपना कर्तव्य पालन करे, परन्तु कर्मफल की इच्छा को त्याग दे। वर्तमान युग से स्वामी दयानन्द ने भी सन्यास का यही आदर्श हमारे सामने रक्खा है।

१०—कृष्ण का प्यारा कौन है ?

जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो प्राणी मात्र का मित्र है, दयाशील है, जो ममता और अहंकार से रहित है, जिसके लिए सुख और दुख दोनों समान हैं, जो क्षमावान है;

जो सर्वदा सन्तुष्ट, स्थिरचित्त, संयमी तथा दृढ़ निश्चयी है और जिसने मन और बुद्धि मुझे अर्पण कर दिये हैं, ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जिससे न लोगों को भय है और न जो लोगों से डरता है, जो हर्ष, क्रोध, भय आदि उद्वेगों से मुक्त होगया है, वह मुझे प्रिय है।

जो किसी का मुहताज नहीं, पवित्र दक्ष, उदासीन और दुःखरहित है, तथा जिसने सर्व प्रकार के कार्यों का आरम्भ करना छोड़ दिया है, वह मेरा भक्त मुझे प्रिय है।

जो न किसी से प्रसन्न होता है, और न द्वेष करता है; जो न शोक करता है और न आकांक्षा करता है, जिसने शुभ और अशुभ दोनों का परित्याग कर दिया है, जो भक्तिमान है, वह मुझे प्रिय है।

जो शत्रु और मित्र को, मान और अपमान को, शीत और उष्ण को,

तथा सुख और दुख को समान समझता है, जो आसक्ति रहित है'–

जिसके लिये निन्दा और स्तुति समान हैं, जो मौन रहता है, जो जो कुछ मिल जाय, उसी में सन्तुष्ट रहता है, जो गृहविहीन तथा स्थिर बुद्धि-वाला है, वह भक्तिमान पुरुष मुझे प्रिय है।

'जो मुझ में श्रद्धा रखकर, इस उपरोक्त अमृत के समान हितकारक धर्म का आचरण करते हैं, वे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।'

(१२:१३–२०)

११—मनुष्यों में प्रकृति भेद

'सत्व, रज, तम—यह तीन गुण प्रकृति से पैदा होते हैं। यह तीनों अविनाशी जीव को इस शरीर में बांधते हैं। इन में से सत्वगुण पवित्र दुख रहित होने से जीव को सुख और ज्ञान से बांधता है।

रजोगुण अनुरागात्मक है। यह तृष्णा को उत्पन्न करता है, और जीव को कर्म–सङ्ग (कर्म के प्रेम) से बाँधता है।

तमोगुण अज्ञान से उत्पन्न होता है। यह सब प्राणियों को मोह में जकड़ता है। यह प्रमाद, आलस्य और नींद से जीव को बांधता है।

'सत्व' सुख से, 'रज' कर्म से, 'तम' प्रमाद से जोड़ देता है।

'रज' और 'तम' वश में हो जायँ (दबाये जायँ), तो सत्व का प्रकाश होता है। सत् और तम के दबने से रज प्रकट होता है। सत्व और रज के दबने से तम प्रकट होता है।

जब सत्व प्रधान होता है, तो इस शरीर के सब द्वारों में प्रकाश उत्पन्न होता है। (मनुष्य को हर प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है)।

जब रजोगुण प्रधान होता है, तो लोभ, कर्म में लगन, नये नये कामों का आरम्भ करना, अशान्ति और वासनाओं का प्रकाश होता है।

जब तमोगुण प्रधान होता है, तो अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और मोह उत्पन्न होते हैं ।' (१४:५–१३)

'जो पुरुष सङ्ग (कर्मों के मोह) से स्वतन्त्र है, जिसमें अहंकार नहीं, जिसमें धृति और उत्साह है, जो सफलता प्राप्त करने पर प्रसन्न नहीं होता और असफल होने पर शोक नहीं करता, वह कर्ता 'सात्विक' कहलाता है ।'

'जो राग में फँसा है, कर्मफल की इच्छा करता है, लोभी है, कठोर है, अपवित्र है, जो हर्ष शोक में फँसा है, वह कर्ता 'राजसिक कर्ता' कहलाता है ।'

जिस पुरुष का कोई निश्चित चरित्र नहीं, जो सभ्य नहीं, जो हठी है, दूसरों का अपमान करता है, आलसी है, जिसका स्वभाव कठोर है, जो समय पर कार्य नहीं करता, ऐसा कर्त्ता 'तामसिक कर्त्ता' कहलाता है ।'

(१८:२६–८)

१२—देव और असुर

'जो पुरुष दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न होता है, उसमें निम्नलिखित २६ गुण पाये जाते हैं:—निडरता, पवित्रता, ज्ञान, योग में स्थिरता, दान देना, इन्द्रियों को वश में रखना, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा (वैर त्याग), सत्य, क्रोध न करना, त्याग, शान्ति, दूसरों की निन्दा न करना, दीनों पर दया करना, सन्तोष, कोमल स्वभाव, बुरे कामों के करने में लज्जित होना, चञ्चलता को छोड़ देना, तेज, क्षमा, धृति, शौच, सबसे मित्र भाव रखना, अभिमान न करना ।' (१६:१–३)

'जो पुरुष आसुरी सम्पत्ति में पैदा होते है, उनमें यह गुण पाये जाते हैं:—दम्भ (पाखण्ड), दर्प (धनादि का मद), अभिमान, क्रोध, असभ्यता और अज्ञान ।' (१६:४)

आसुरी वृत्ति के लोग यह नहीं जानते कि क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिए। उनमें न पवित्रता होती है, न आचार, न सत्य ही होता है।'

'उनका सिद्धान्त यह होता है कि संसार का कोई आधार नहीं, इसमें कोई सत्यता नहीं, इसका बनाने वाला ईश्वर भी नहीं। काम के वश में स्त्री पुरुष का संयोग होता है, इसी से सृष्टि उत्पन्न होती है। इससे परे कुछ नहीं।'

'आज मैंने यह प्राप्त कर लिया है, कल मेरी वह इच्छा पूरी हो जायगी; यह धन मिल ही गया है, वह भी शीघ्र ही मिल जायगा; इस शत्रु को समाप्त कर दिया है, दूसरों को भी निपटा दूंगा; मैं स्वामी हूँ, भोग मेरे वश में है, मैं सफल हूँ, मैं बलवान हूँ, सुखी हूँ, धनवान हूँ, कुलीन हूँ; मेरे जैसा दूसरा कौन है? अब मैं यज्ञ भी कर लूँगा, दान भी दे दूँगा, और आनन्द करूँगा।'

'इन विचारों में पड़े हुए आसुरी वृत्ति के लोग; नरक में गिरते हैं।'

(१६:१३–१६)

१३—नरक द्वार

'काम, क्रोध और लोभ तीन द्वार नरक को ले जाने वाले हैं। यह आत्मा का नाश करने वाले हैं। इन तीनों से बचो।'

'जो पुरुष इन तीनों से मुक्त हो जाता है, वह अपनी भलाई के लिए काम करता है और परम गति को प्राप्त करता है। जो पुरुष शास्त्र विधि को त्याग कर काम के वश में कर्म करता है, वह न तो सफल होता है, न उसे सुख मिलता है और न परमगति।'

'इसलिए यह जानने के लिये कि क्या करना है और क्या नहीं करना है,' सत्य शास्त्रों को अपने लिये प्रमाण बनाओ। शास्त्रों से यह ज्ञान प्राप्त करके ही, तुम कर्म करने के अधिकारी बनते हो।' (१६:२१,२३,२४)

१४–जीव, प्रकृति और परमात्मा

'इस जगत में जो कुछ है, वह दो भागों में बट सकता है। एक नाशवान और दूसरे न नाश होने वाले पदार्थ। बाह्य जगत के सब पदार्थ नाशवान हैं। अमर आत्मा में परिवर्तन नहीं होता।'

'इन दोनों से पृथक् उत्तम पुरुष है, जिसे परमात्मा कहते है। वह तीनों लोकों में वर्तमान रहता है। वही इन दोनों का स्वामी और इनका पालन करने वाला है।' (१५:१६–१७)

१५–त्याग

'त्याग तीन प्रकार का बताया जाता है:–'

यज्ञ, दान और तप, यह तीन कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं; इन्हें करना ही चाहिए। बुद्धिमान को यह तीनों पवित्र करते हैं।

परन्तु इन कर्मों को भी राग और फल की कामना को छोड़ कर ही करना चाहिए।

नियत कर्म को जिसे एक पुरुष ने अपना कर्तव्य स्वीकार कर लिया है, त्याग उचित नहीं। यदि मोह या अज्ञान के कारण ऐसे कर्म को न किया जाय, तो ऐसा त्याग 'तामसिक त्याग' कहलाता है।

'कर्म करने से कष्ट होता है' जो पुरुष ऐसा विचार कर, कष्ट से बचने के लिये, कर्म नहीं करता, उसका त्याग राजसिक हैं। उसे त्याग का फल नहीं मिलता। 'यह तो करना ही चाहिये'–जो पुरुष इस भाव से कर्तव्य कर्म करता है, और मोह और कर्म-फल की इच्छा से प्रभावित नहीं होता, उसका त्याग सात्विक कहलाता है।' (१८:४–९)

'किसी पुरुष के लिए यह तो सम्भव ही नहीं कि वह कर्म करना सम्पूर्णतया छोड़ दे। जिस पुरुष ने कर्मफल की कामना को छोड़ दिया है, वही त्यागी है।' (१८:११)

१६—सफलता प्राप्त करने के उपाय

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण है और जहाँ धनुर्धर अर्जुन है, वहाँ ही, धन सम्पत्ति, विजय, ऐश्वर्य और नीति है; यह मेरा मत है।' (१८:७०)

भगवद्गीता के अन्तिम श्लोक में इसकी शिक्षा का निचोड़ बयान किया गया है। किसी जाति की उन्नति के लिए न ब्राह्मण पर्याप्त हैं और न क्षत्रिय। जहाँ दोनों मिल जाते हें, वहाँ सब कुछ प्राप्त हो जाता है। यह श्लोक राजनीति का मौलिख नियम है।

१७—मिश्रित

क्षत्रिय के लिये धर्मायुद्ध से बढ़ कर कोई वस्तु कल्याणकारी नहीं। ऐसा युद्ध ईश्वर कृपा से प्राप्त होकर क्षत्रिय के लिए स्वर्ग का द्वार होता है। यह भाग्यवान क्षत्रियों को ही मिलता है। (२:३१–३२)

'कर्म करो, कर्मफल की आशा मत करो। कर्मफल को ही कर्म करने का कारण मत बनाओ और निकम्मे भी मत रहो।' (२:३१–३२)

'जब सारे प्राणी सोते हैं, तो संयमी पुरुष जागता है; और जब दूसरे प्राणी जागते हैं, तब संयमी ज्ञानी पुरुष सोता है।' (२:६९)

जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में साधारण पुरुष इतने व्याकुल होते हैं, उनके सम्बन्ध में संयमी पुरुष को कोई चिन्ता नहीं होती। जिन वस्तुओं से साधारण पुरुष उदासीन होते हैं, वह संयमी पुरुष की दृष्टि में बहुमूल्य होती हैं।

'जो मनुष्य कर्म फल का आश्रय न लेकर, कर्म इसलिये करता है कि वह कर्तव्य है, वह सन्यासी और योगी है। कर्मकाण्ड और कर्तव्य के त्याग से मनुष्य सन्यासी और योगी नहीं बन जाता।'

'जिस परमात्मा से सब प्राणी पैदा हुए हैं, जिसने सब संसार को फैलाया है, उसकी पूजा अपने कर्म द्वारा करके, मनुष्य सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त करता है।' (१८:४६)

अध्याय ६

महाभारत

१—धर्मराज्य क्या है ?

नारद ने युधिष्ठिर से उसके राज्य के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न किये। इन प्रश्नों से प्रतीत होता है कि नारद की सम्मति में धर्मराज्य कैसा राज्य होता है। इन प्रश्नों में से कुछ नीचे दिये जाते हैं:—

१. क्या तुम्हारे पास सामग्री पर्याप्त है ? क्या तुम्हारा मन धर्म में लगा रहता है ? जिन लोगों को तुमने राज्यमन्त्री नियत किया हैं, क्या वे कुलीन और अपने कर्तव्य को भली-भांति पालन करने वाले हैं ?

२. क्या तुम्हारे किलों में धन, अन्न, पानी, शस्त्र, यन्त्र, कारीगर और सैनिक पर्याप्त हैं ?

३. क्या तुम सेना को वेतन समय पर देते हो ?

४. क्या तुम विद्वानों की सहायता उनकी योग्यतानुसार धन से करते हो ?

५. जो सिपाही युद्ध में मर जाते हैं, क्या तुम उनके परिवार की पालना करते हो ?

६. क्या तुम सम्बन्धियों, गुरुजनों, बूढ़ों, व्यापारियों और कारीगरों को जो कष्ट में हों, सहायता देते हो ?

७. जो कर्मचारी अपना काम कर सकते हों और स्वामिभक्त भी हों, उन्हें किसी दोष के बिना अपने पद से हटा तो नहीं देते ?

८. क्या खेती के लिये राज्य में बिखरे हुए बड़े बड़े पानी के तालाब हैं ? खेती केवल वर्षा पर ही तो निर्भर नहीं है ?

९. क्या राज्य की आर्थिक दशा अच्छे और योग्य पुरुषों के प्रबन्ध में है ? इस लोक में उसी राज्य में सुख हो सकता है जिसकी आर्थिक दशा अच्छी हो ।

१०. क्या आग से, विषैले जन्तुओं से, रोगों से राज्य सुरक्षित रखने का प्रबन्ध किया हुआ है ?

११. क्या अन्धों, गूंगों, लूलों, अपाहिजों, अनाथों और साधु-सन्तों की सहायता के लिये कुछ प्रबन्ध किया हुआ है ?

१२. क्या अपने जीवन में तुमने इन दोषों को छोड़ दिया है ?

बहुत सोना, आलस्य, क्रोध, नरम स्वभाव, कामों का लटकाये जाना।

(सभापर्व)

२---वर्ण धर्म

'ब्राह्मणों का काम वेद और वेदाङ्गों का पढ़ना पढ़ाना है । ब्राह्मण सत्य बोले और दूसरों को सत्य का उपदेश दे । जो काम अन्य वर्णों के लिये नियत हैं, उनसे और ऐसे कामों से जिन से उसकी निन्दा हो, दूर रहे । जो धन उसे प्राप्त हो सके, उसके ६ भाग करे । एक भाग यज्ञ हवन के लिये, दूसरा दान के लिये, तीसरा माता पिता की सेवा के लिए, चौथा धन देने वाले के कल्याण के लिये, पाँचवाँ अपने लिये और छठा अपने परिवार के लिये वर्त्ते ।'

'ब्राह्मण को चाहिये कि किसी से द्वेष न करे, सबसे मित्रभाव रक्खे । भिक्षा मांगने का स्वभाव न बना ले । जब गृहस्थ आश्रम को छोड़ दे, तो बन में वास करे और किसी से कुछ न माँगे । दिन भर में एक बार जो कुछ हाथ आये, खाये ।'

'क्षत्रिय का धर्म है कि ब्राह्मण का मान करे । दान दे, किसी से कुछ न माँगे । शत्रुओं को मारे और युद्ध-क्षेत्र में प्राण छोड़े । रण में मरने वाला क्षत्रिय सीधा स्वर्ग को जाता है ।'

'न्याय करने से राजा को वही पदवी प्राप्त होती है, जो धर्मात्मा ब्राह्मण को तपस्या से मिलती है। राजा का एक न्याययुक्त काम सैकड़ों वर्षों की तपस्या के समान फल देता है।'

वैश्य का धर्म है वेद पढ़े, अपने लिये सम्मान वाली आजीविका का प्रबन्ध करे। धन संग्रह करे। पशुओं का पालन करे। यदि उसके पास ६ गायें हों, तो साल में एक राजा को भेंट दे, एक ब्राह्मण को दे, शेष अपने पास रक्खे। व्यापार में लगाये हुये धन का सातवां भाग लाभ में ले।' शूद्र का धर्म है कि दूसरे वर्णों की सेवा करे, दुःख में उन्हें पीड़ा न दे। धन इकट्ठा करना उसका काम नहीं। (जो धन इकट्ठा करने की योग्यता रखता है, वह तो शूद्र है ही नहीं)।

(शांति पर्व)

३—यक्ष और युधिष्ठिर के प्रश्नोत्तर
युधिष्ठिर की परीक्षा

द्वैत बन में कुछ ब्राह्मण पाण्डवों के पास आये, और कहा कि एक हिरन उनके पात्र को, जिससे वे हवन करने के लिये अग्नि तैयार करते हैं, सींगों में उलझा कर ले गया है। वे उनके पात्र को ढूंढ़ कर ला दें। पाण्डवों ने इसे स्वीकार किया, और उस पात्र की खोज में निकले। इस खोज में थक कर वे एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। सब प्यासे थे। युधिष्ठिर ने कहा—'कहीं से पानी लाना चाहिये।' छोटे भाई, एक दूसरे के बाद सब तालाब पर गये और वहाँ पानी पीते ही मूर्छित हो गये। जब वे लौट कर न आये, तो युधिष्ठिर भी वहां पहुंचा। वे पानी पीने ही लगा था कि उसे आकाशवाणी सुनाई दी। वाणी ने कहा—'पहिले मेरे प्रश्नों का उत्तर दे लो, फिर पानी पीना; नहीं तो तुम्हारी दशा भी वही होगी जो तुम्हारे भाइयों की हुई है। उन्होंने मेरे रोकने पर भी, मेरे प्रश्नों का उत्तर दिये बिना पानी पीने का साहस किया। इस लिये उनका प्राणान्त हो गया।

उनके उदाहरण से कुछ लाभ उठाओ।'

युधिष्ठिर ने कहा, "पूछो, क्या पूछते हो ? जो कुछ मैं जानता हूं, बता दूँगा।'

आकाशवाणी ने यक्ष का रूप धारण कर लिया। यक्ष और युधिष्ठिर में जो प्रश्नोत्तर हुए, उनमें से कुछ नीचे लिखे जाते हैं:—

प्रश्न––धर्म का एक मात्र साधन क्या है ?
यश का एक मात्र साधन क्या है ?
स्वर्ग पहुँचाने का एक मात्र साधन क्या है ?

उत्तर––अपने कर्तव्यों को सोच समझ कर करना धर्म का साधन है।
दान देना यश प्राप्ति का साधन है।
सत्य से स्वर्ग मिलता है।
शील, अच्छे आचरण से सुख प्राप्त होता है।

प्रश्न––कौन व्यक्ति मनुष्य का आत्मा है ? परमात्मा की ओर से नियुक्त मित्र कौन है ?

उत्तर––पुत्र मनुष्य का आत्मा (उसका अपना स्वरूप) ही है। धर्मपत्नी ही सबसे बड़ा मित्र है।

प्रश्न––धनों में सर्वोत्तम धन कौन है ?
लाभों में सर्वोत्तम लाभ कौन सा है ?
सुखों में सर्वोत्तम सुख कौन सा है ?

उत्तर—धनों में सर्वोत्तम धन विद्या है।
लाभों में सर्वोत्तम लाभ स्वास्थ्य है।
सुखों में सर्वोत्तम सुख सन्तोष है।

प्रश्न––धर्मों में श्रेष्ठ धर्म क्या है ?
किस धर्म का फल सदा मिलता रहता है ?
चिन्ता और फिक्र से छूटने का उपाय क्या है ?

किसी मित्र की मित्रता कभी बूढ़ी नहीं होती ?

उत्तर—प्राणियों को अभय दान देना सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

तीन प्रकार का धर्म (कर्म, उपासना और ज्ञान) कभी निष्फल नहीं होता ।

जो लोग अपने मन को वश में कर लेते हैं, उनको चिन्ता नहीं होती।

भले पुरुषों की मित्रता कभी बूढ़ी नहीं होती ।

प्रश्न—किस शत्रु पर विजय प्राप्त करना कठिन है ?

कौन सा रोग असाध्य है ?

साधु और असाधु पुरुष में क्या अन्तर है ?

उत्तर—क्रोध का जीतना बहुत कठिन है।

लोभ ऐसा रोग है जिसकी कोई औषधि नहीं।

साधु पुरुष वह है जो दूसरों का हित करता है; असाधु पुरुष वह है जो केवल अपने लिये जीता है।

प्रश्न—सबसे बड़ा स्नान क्या है ?

सबसे बड़ा दान क्या है ?

उत्तर—मन के मैल को दूर करना सबसे बड़ा स्नान है।

प्राणियों की रक्षा करना सबसे बड़ा दान है।

प्रश्न—सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है ?

उत्तर—लोग नित्य मृत्यु के मुँह में जाते हैं, परन्तु जो जीते हैं, वे यह देख कर भी सदैव जीते रहने की इच्छा करते हैं। उन्हें अपनी मृत्यु का ध्यान नहीं आता। इससे बढ़ कर आश्चर्य क्या हो सकता है ?

यक्ष ने कहा—'मुझे जो कुछ पूछना था, मैंने पूछ लिया। अब मैं तुम्हारे एक भाई को फिर जीवित कर सकता हूं। बताओ किसे जीवित करूँ ?

युधिष्ठिर ने कहा : 'नकुल को जीवित कर दो।'

यक्ष : 'नकुल को ? वह तो तुम्हारी सौतेली मां का पुत्र है। अर्जुन और भीम तुम्हारे सगे भाई हैं, उनका ध्यान तुम्हें क्यों नहीं आता ?'

युधिष्ठर : 'मेरी यही इच्छा हैं कि नकुल को जीवित कर दो। इस प्रकार जहाँ मेरी अपनी माता का एक पुत्र जीवित होगा, वहाँ मेरी सौतेली माता का भी एक पुत्र जीवित होगा। धर्म यही चाहता हैं। यही मेरी इच्छा है।'

यक्ष ने अब अपने आपको प्रकट कर दिया और कहा : 'मैं धर्म हूँ, मैंने यह सारा खेल तुम्हारी परीक्षा के लिये रचा था। तुम इस परीक्षा में पूरे उतरे हो। मैं तुम्हारे सब भाइयों को जीवित करता हूँ।'

यह कह कर धर्म वहां से गायब हो गया।

युधिष्ठिर की परीक्षा एक बार फिर भी धर्म ने की। युधिष्ठिर स्वर्ग जाने के लिये तैयार था। जब विमान पर बैठने लगा तो उसने अपने स्वामिभक्त कुत्ते की ओर देखा; कुत्ता आगे बढ़ा। विमान चलाने वालों ने कहा, "हम तो आपको स्वर्ग में ले जाने के लिये आये हैं; वहाँ कुत्तों के लिये कोई स्थान नहीं"। युधिष्ठिर पीछे हट गये और कहा, "जिस स्वर्ग में मैं अपने स्वामिभक्त कुत्ते को साथ नहीं ले जा सकता, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। ऐसे स्वर्ग से वर्तमान दशा ही अच्छी है।" उस समय धर्म प्रकट हुआ और कहा, "तुम परीक्षा में पूरे उतरे, तुमने धर्म को आगे रक्खा है, और स्वर्ग के सुख को पीछे। यही कहना ठीक था।"

४—राग और तृष्णा

'मानसिक दुःख से शरीर का सन्ताप भी उत्पन्न हो जाता है, जैसे घड़े में रक्खा हुआ जल गरम किये हुये लोहे से गरम हो जाता है।

जैसे जल से अग्नि को बुझाया आता है, उसी प्रकार ज्ञान से मानसिक दुख को शांत करना चाहिये। मन के शांत होने पर शारीरिक दुख भी दूर हो जाता है।

मानसिक दुख का कारण स्नेह या मोह है। स्नेह के कारण ही मनुष्य विशेष कार्यों के करने के लिये बेचैन होता है, और दुख के साथ संयोग प्राप्त करता है।

स्नेह दुख का मूल है। स्नेह से भय उत्पन्न होता है। स्नेह से ही हर्ष, शोक और परिश्रम पैदा होते हैं।

जैसे वृक्ष के कोटर में बची हुई थोड़ी सी अग्नि वृक्ष को समूल जला डालती है, उसी प्रकार थोड़ा–सा राग-द्वेष भी धर्म और अर्थ को नष्ट कर देता है।

राग से घिरा हुआ मनुष्य, इच्छाओं द्वारा खिच जाता है। इच्छाओं के उत्पन्न होने पर तृष्णा उत्पन्न हो जाती है।

बेसमझ लोग तृष्णा को छोड़ नहीं सकते। मनुष्य बूढ़ा हो जाता है, परन्तु उसकी तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। यह ऐसे रोग के समान है, जो मनुष्य जीवन का अन्त करके ही उनका पीछा छोड़ता है। इस तृष्णा को छोड़ने में सुख होता है।

कोई मनुष्य सारी कामनाओं को पूरा नहीं कर सकता। सन्तोष ही परम सुख है। यौवन, रूप, जीवन, धन, ऐश्वर्य, घरबार सब अनित्य हैं। बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि इनके स्नेह में फँस न जाय।'

(बनपर्व)

५—भीष्म के उपदेश

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया। कौरव हार गये और पाण्डव जीत कर राजसिंहासन के स्वामी हो गये। युधिष्ठर ने राज्य करना आरम्भ किया, परन्तु उसके मन में न सुख था, न शांति। रह रह कर उसे इस बात का ध्यान आता था कि यह विजय उनको कितनी मँहगी पड़ी है। जो राज्य सम्बन्धियों और निर्दोष मनुष्यों का रक्त बहा कर प्राप्त किया जाये,

वह किस काम का ? कृष्ण ने युधिष्ठर से कहा:—'तुम्हारे मन में अशांति है। तुम भीष्म जी के पास जाओ और अपनी कठिनाई का वर्णन करो। वह तुम्हें अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जायगा। धर्म का ज्ञान रखने वालोंमें भी भीष्म सबसे श्रेष्ठ है। जब वह नहीं रहेगा, तो संसार ऐसा तमोमय हो जायगा, जैसे चन्द्रमा के न रहने से रात्रि हो जाती है। भीष्म जीवन और मृत्यु के बीच लटक रहा हैं। जाओ, उससे जो कुछ पूछना है, पूछ लो।' युधिष्ठर कृष्ण, कृप और पाण्डओं के साथ कुरुक्षेत्र में पहुंचा। भीष्म ने जो उपदेश उस समय दिये, उनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं। जीवन का रहस्य, जैसा इसे भीष्म ने समझा था, इन उपदेशों में वर्णन किया गया है।

(१)

'सत्य धर्म सब धर्मों से उत्तम धर्म है। सत्य ही सनातन धर्म है। तप और योग सत्य से ही उत्पन्न होते हैं। शेष सब धर्म सत्य के अन्तर्गत ही हैं।'

'सत्य बोलना, सब प्राणियों को एक जैसा समझना, इन्द्रियों को वश में रखना, ईर्षा द्वेष से बचे रहना, क्षमा, शील, लज्जा, दूसरों को कष्ट न देना, दुष्कर्मों से पृथक् रहना, ईश्वर भक्ति, मन की पवित्रता, साहस, विद्या–यह तेरह सत्य धर्म के लक्षण हैं। वेद सत्य का ही उपदेश करते हैं। सहस्त्रों अश्वमेध यज्ञों के समान सत्य का फल होता हैं।'

'सत्य ब्रह्म है, सत्य तप है, सत्य से मनुष्य स्वर्ग को जाता है। झूठ अन्धकार की तरह हैं। अन्धकार में रहने से मनुष्य नीचे गिरता है। स्वर्ग को प्रकाश और नरक को अन्धकार कहा है।'

'ऐसे बचन बोलो जो दूसरों को प्यारे लगें। दूसरों को बुरा भला कहना, दूसरों की निन्दा करना, बुरे बचन बोलना, यह सब त्यागने के योग्य हैं। दूसरों का अपमान करना, अहङ्कार और दम्भ यह अवगुण हैं।'

'वेद का उपनिषद (रहस्य, तत्त्व) सत्य है। सत्य का उपनिषद दम (मन को वश में करना) है। दम का उपनिषद मोक्ष है। इस शिक्षा में शेष सब शिक्षायें आ जाती हैं।'

(२)

'इस लोक में जो सुख कामनाओं को पूरा करने से मिलता है और जो सुख परलोक में मिलता है, वह उस सुख का जो कामनाओं से मुक्त होने पर मिलता है सोलहवां हिस्सा भी नहीं है।

'जब मनुष्य अपनी वासनाओं को अपने अन्दर खींच लेता है, जैसे कछुआ अपने सब अङ्ग भीतर को खींच लेता है, तो आत्मा की ज्योति और बड़ाई दिखाई देती है।'

'मृत्यु और अमृतत्त्व—दोनों मनुष्य के अपने अधीन हैं। मोह का फल मृत्यु और सत्य का फल अमरत्व है।'

'संसार को बुढ़ापे ने हर ओर से घेरा है। मृत्यु का प्रहार उस पर हो रहा है। दिन जाता है, रात बीतती है। तुम जागते क्यों नहीं ? अब भी उठो। समय व्यर्थ न जाने दो। अपने कल्याण के लिये कुछ कर लो। तुम्हारे काम अभी समाप्त नहीं होते कि मृत्यु तुम्हें घसीट ले जाती है।'

'स्वयं अपनी इच्छा से निर्धनता का जीवन स्वीकार करना सुख का हेतु है। यह मनुष्य के लिये कल्याणकारी है। इससे मनुष्य क्लेशों से बच जाता है। इस पथ पर चलने से मनुष्य किसी को अपना शत्रु नहीं बनाता। यह मार्ग कठिन है, परन्तु भले पुरुषों के लिये सुगम है। जिस मनुष्य का जीवन पवित्र है और इसके अतिरिक्त उसकी कोई सम्पत्ति नहीं, उसके समान मुझे दूसरा दिखाई नहीं देता। मैंने तुला के एक पल्ले में ऐसी निर्धनता को रक्खा और दूसरे पल्ले में राज्य को। निर्धनता का पल्ला भारी निकला। धनवान् पुरुष तो सदा भयभीत रहता है, जैसे मृत्यु ने उसे अपने जबड़े में पकड़ रक्खा है।'

'त्याग के बिना कुछ प्राप्त नहीं होता। त्याग के बिना परम आदर्श की सिद्धि नहीं होती। त्याग के बिना मनुष्य भय से मुक्त नहीं हो सकता। त्याग की सहायता से मनुष्य को हर प्रकार का सुख प्राप्त हो जाता है।'

'वह पुरुष सुखी है, जो मन को साम्यावस्था में रखता है, जो व्यर्थ चिन्ता नहीं करता। जो सत्य बोलता है, जो साँसारिक पदार्थों के मोह में फँसता नहीं, जिसे किसी काम के करने की विशेष चेष्टा नहीं होती।

'जो मनुष्य व्यर्थ अपने आपको सन्तप्त करता है, वह अपने रूप रङ्ग, अपनी सम्पत्ति, अपने जीवन और अपने धर्म को भी नष्ट कर देता है। जो पुरुष शोक से बचा रहता है, उसे सुख और आरोग्यता दोनों प्राप्त हो जाते हैं।'

'सुख दो प्रकार के मनुष्यों को मिलता है : उनको जो सबसे अधिक मूर्ख हैं, और उनको जिन्होंने बुद्धि के प्रकाश में तत्व को देख लिया है। जो लोग बीच में लटक रहे हैं, वे दुखी रहते हैं।'

'श्रेष्ठ और सज्जन पुरुष का चिह्न यह है कि वह दूसरों को धनवान् देख कर जलता नहीं। वह विद्वानों का सत्कार करता है और धर्म के सम्बन्ध में प्रत्येक स्थान से उपदेश सुनता है।'

'जो पुरुष अपने भविष्य पर अधिकार रखता है। (अपना पथ आप निश्चित करता है, दूसरों के हाथ की कठपुतली नहीं बनता), जो समयानुकूल तुरन्त विचार कर सकता है और उस पर आचरण करता है, वह पुरुष सुख को प्राप्त करता है। आलस्य मनुष्य का नाश कर देता है।'

'यह दो बड़े तीव्र काँटे हैं और शरीर को सुखा देने वाले हैं:—

१. एक यह कि निर्धन हो और बहुत सी कामनायें रक्खे।

२. दूसरे यह कि बल तो कुछ हो नहीं और क्रोध करता रहे।—

'दो प्रकार के मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त करते हैं।

१. परिब्राजक योगी (सन्यासी)'

२. युद्ध में सम्मुख लड़ कर मरने वाला क्षत्रिय।'

(३)

'जो मनुष्य अपने आपको वश में करना चाहता है, उसे लोभ और मोह से मुक्त होना चाहिए ।'

'दम के समान कोई धर्म नहीं सुना गया है । दम क्या है ? क्षमा, धृति, वैर-त्याग, समता, सत्य, सरलता, इन्द्रिय संयम, कर्म करने में उद्यत रहना, कोमल स्वभाव, लज्जा, बलवान् चरित्र, प्रसन्न चित्त रहना, सन्तोष, मीठे बचन बोलना, किसी को दुख न देना, ईर्ष्या न करना–यह सब दम में सम्मिलित हैं ।'

'कामनाओं को त्याग देना उन्हें पूरा करने से श्रेष्ठ है । क्या आज तक किसी मनुष्य ने अपनी सब कामनाओं को पूरा किया है ? इन काम–नाओं से बाहर आओ । पदार्थ के मोह को छोड़ दो । शांत चित्त हो जाओ ।'

'लोग अनेक प्रकार के मोह में जकड़े हुए हैं । उनकी दशा ऐसी है, जैसी रेत के पुल की, जो नदी के वेग के साथ नष्ट हो जाता है । जिस प्रकार तिल कोल्हू में पेरे जाते हैं, उसी प्रकार वह मनुष्य पेरे जाते हैं जो संसार के मोह में फँसे हैं । बूढ़ा हाथी कीचड़ में फँस जाता है, और निकल नहीं सकता । वैसी ही दशा उस मनुष्य की है जो मोह में फँसा हुआ है ।'

'जो कल करना है, उसे आज ही कर लो । मृत्यु यह नहीं देखती कि तुमने अपना कार्य अभी समाप्त नहीं किया है । वह तुम्हारे लिये प्रतीक्षा नहीं करेगी ।'

'बुद्धिमान पुरुष, रात्रि के पहले और अन्तिम भाग में भगवान् का ध्यान करता है । अपना भोजन कम कर देता है और अपना मन शुद्ध करता है । इस प्रकार उसे अपनी आत्मा में ही परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं ।'

'शत्रु, ऋण और अग्नि को कभी थोड़ा नहीं समझना चाहिए । यह बढ़ते ही जाते हैं । यही दशा रोग की है । इन्हें कम करने का यत्न करना चाहिये ।'

'जिस देश में रहे, उसकी रीति व्यवहारों पर चलना चाहिये ।'

(४)

'धर्म कार्य करते हुए मृत्यु हो जाना पाप करते हुए विजय प्राप्त करने की अपेक्षा कहीं अच्छा है ।'

'पाप का मूल क्या है ? लोभ पाप का मूल है । लोभ से पाप उत्पन्न होता है । इसी से दुख उत्पन्न होता है । लोभ ही छल कपट का मूल है। इसी से दूसरी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं । जो पुरुष अपने आपको वश में करना चाहता हैं, उसे लोभ और मोह से मुक्त होना चाहिये ।'

'जो लोग अपने आचरण की नींव धर्म पर नहीं रखते, वे अनाज के पास भूसे की तरह हैं; वे पक्षियों में पतङ्गों की तरह हैं ।'

'गृहस्थाश्रम से बढ़ कर कोई धर्म नहीं । परन्तु जब गृहस्थ मोह में फँस जाता है, तो नाना प्रकार के दुख झेलता है और आवागमन के चक्कर में पड़ जाता है । मन और इन्द्रियों को वश में रखना गृहस्थ का तप है ।'

'मृत्यु के पीछे माता, पिता, भाई, बन्धु साथ नहीं जाते, न कुछ सहायता कर सकते हैं । केवल धर्म ही साथ जाता है और सहायता देता है । अनुचित मोह को छोड़, धर्मानुसार जीवन व्यतीत करने से ही इस जीवन में सुख मिलता है और इसके पीछे कल्याण होता है। जो पुरुष ऐसा नहीं करता, उसे न तो इस लोक में सुख मिलता है और न इसके पीछे मिलेगा ।'

'धर्म का महत्व शूर वीरता से बना रहता है । धर्म वीरता और पराक्रम के अधीन है ।'

'सर्वप्रिय बनने के साधन क्या हैं ? मनुष्य उदार हो, दृढ़ हो, बड़ों का मान करे, और मीठे बचन बोले ।'

'सदाचार, स्मृति और वेद तीन प्रकार का धर्म का लक्षण बताया गया है । कुछ लोग अर्थ को भी चौथा लक्षण बताते हैं ।'

(५)

'राग, द्वेष, मोह, हर्ष, शोक, अभिमान, क्रोध, आलस्य ये सब अज्ञान से उत्पन्न होते हैं और अज्ञान के ही रूप हैं।'

'विद्या के समान कोई आँख नहीं। सत्य के समान कोई तप नहीं। राग (सांसारिक पदार्थों में अति मोह) के समान कोई दुख नहीं। त्याग के समान कोई सुख नहीं।'

'ज्ञान सब पदार्थों का आधार है। ज्ञान सबसे बड़ा लाभ है। ज्ञान ही इस लोक में सबसे बड़ा कल्याण है। भले पुरुष ज्ञान को स्वर्ग ही समझते हैं।'

अध्याय ७

धम्मपद

महात्मा बुद्ध के उपदेश

१—शुद्ध आचरण

'इस संसार में द्वेष द्वेष से शान्त नहीं हो सकता। इसे शान्त करने का उपाय अद्वैष या वैर त्याग है। यह प्राचीन नियम (सनातन धर्म) है।'

कई झगड़ने वाले लोग यह अनुभव नहीं करते कि किसी समय हम सब को इस संसार से चल देना है। हाँ, कुछ लोग ऐसे भी हैं जो इस बात को अनुभव करते हैं। वह अपने झगड़ों का निर्णय कर लेते हैं।

जिस पुरुष ने गेरुये वस्त्र धारण कर लिए हैं, परन्तु अपवित्र भावों से मुक्त नहीं हुआ और दम और सत्य से बेपरवाह है, वह गेरुये वस्त्रों का अधिकारी नहीं।

गेरुये वस्त्रों का अधिकारी वही है जिसने अपना जीवन पवित्र बना लिया है, जो धर्म के नियमों पर आचरण करता है, जिसे दम और सत्य की चिन्ता है।

जिस प्रकार निर्बल छत में वर्षा का पानी धँस जाता है, उसी प्रकार चञ्चल मन में विषयों का राग प्रवेश कर जाता है।

इस लोक और परलोक में पापी मनुष्य रोता चिल्लाता है। जब वह अपने कर्मों का चिन्तन करता है, तो उसे शोक और दुख होता है।

धर्मात्मा पुरुष इस लोक और परलोक में सुखी होता है । जब वह अपने अच्छे कर्मों का चिन्तन करता है, तो उसकी प्रसन्नता बढ़ती जाती है ।

यदि एक पुरुष धार्मिक पुस्तकों का स्वाध्याय बहुत करता है, परन्तु उस पर आचरण नहीं करता, तो वह एक ग्वाले की तरह है जिसका काम केवल दूसरे की गउयें गिनना है (उनके दूध में उसका कोई भाग नहीं) । ऐसे पुरुष के जीवन में भिक्षु या सन्यासी जीवन का कोई अङ्ग नहीं ।'

२—जागते रहो

'जो पुरुष जागता है, वह ऐसे मार्ग पर चलता है, जो अमर जीवन की ओर ले जाता है । प्रमाद का मार्ग मृत्यु की ओर ले जाता है । जो जागते हैं, वे मृत्यु से स्वतन्त्र हैं । जो प्रमाद में फँसे हैं, वे मानो अभी मर चुके हैं ।

जिन लोगों ने जाग्रत के चिह्न को समझ लिया है, वे उसमें आनन्द का अनुभव करते हैं, और ऐसे कामों की ओर खिच जाते हैं जिन्हें आर्य पुरुष अपनाते हैं ।

अपना समय प्रमाद में मत बिताओ, न शारीरिक सुखों की चेष्टा करो । जो पुरुष जागता है और ज्ञान ध्यान में अपना समय व्यतीत करता है, वही सच्चे आनन्द को प्राप्त करता है ।

जिस प्रकार पहाड़ की चोटी पर खड़ा हुआ पुरुष उन लोगों को जो नीचे खड़े हुये हैं, देखता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष, जिसने अपनी जागृति से अज्ञान को दूर कर दिया है, ज्ञान के ऊँचे स्थान से दुखों मनुष्यों पर नीचे दृष्टि डालता है ।

प्रमाद में फँसे हुओं में जागता हुआ, सोये हुओं में सावधान, ज्ञानी पुरुष आगे बढ़ता है, जिस प्रकार एक बलवान घोड़ा निर्बल घोड़ों से आगे निकल जाता है ।'

३--मनुष्य का सबसे अच्छा मित्र और सबसे बड़ा शत्रु उसका अपना मन है

'भले पुरुष को चाहिये कि अपने शरीर को मिट्टी के घड़े की तरह निर्बल समझे और अपने मन को किले की तरह दृढ़ समझे। तब वह पाप का सामना ज्ञान की कृपाण से करे, और वासनाओं से मुक्त होकर अपनी विजय की इच्छा करे।

जितनी हानि किसी मनुष्य को उससे वैर करने वाला पहुँचा सकता है, या जितना दुख उसे उसका शत्रु दे सकता है, उससे अधिक क्लेश उसे उसका अपना मन टेढ़े मार्ग पर चल कर देता है।

जितना लाभ मनुष्य को उसका अपना मन सीधे मार्ग पर चल कर पहुंचा सकता है, उतना उसके माता पिता या बन्धु नहीं पहुँचा सकते।'

४—फूल की तरह बनो

'जिस प्रकार शहद की मक्खी फूलों से शहद लेकर चल देती है और फूलों के रङ्ग और गन्ध को हानि नहीं पहुंचाती, उसी प्रकार मुनि को ग्राम में विचरना चाहिये।

मनुष्य को दूसरों की दुर्बलताओं का ध्यान नहीं करना चाहिये। उसे अपने सम्बन्ध में सोचना चाहिये कि उसने कहाँ अनुचित कर्म किया है, और कहाँ जो करना चाहिये था, नहीं किया।

जो पुरुष अच्छे शब्द बोलता है, परन्तु आप उन पर आचरण नहीं करता, उसका कथन ऐसे फूल की तरह है जो सुन्दर है, अच्छे रङ्ग का है, परन्तु सुगन्ध से हीन है।

उस पुरुष के प्रतिकूल, जो पुरुष अपने कथन पर आचरण भी करता है, उसके शब्द ऐसे सुन्दर फूल की तरह हैं जिनमें रङ्ग के साथ गन्ध भी है।

फूलों की सुगन्ध चाहे वे चन्दन, तगर या चमेली के फूल हों, वायु के प्रतिकूल नहीं जा सकती । परन्तु एक धर्मात्मा पुरुष की सुगन्ध वायु के प्रतिकूल भी जा सकती है। ऐसे पुरुष अपनी सुगन्ध के साथ सब स्थानों में प्रवेश कर लेते हैं।'

५—बाल बुद्धि

'जिस पुरुष को नींद नहीं आती, उसके लिये रात बहुत लम्बी है। जो बहुत थका है, उसके लिये योजन बहुत लम्बा अन्तर है। उन बाल बुद्धि पुरुषों के लिये जिन्हें धर्म का ज्ञान नहीं, संसार-चक्र बहुत लम्बा हैं ।

यदि किसी पुरुष को अपने से अच्छा पुरुष नहीं मिल सकता, अपने समान पुरुष भी नहीं मिल सकता, तो उसे चाहिये कि अपना समय एकान्त में व्यतीत करे। मूर्ख की सङ्गति से प्रत्येक दशा में बचना चाहिये ।

अज्ञानी पुरुष यह चिन्ता करके अपने आपको दुखी करता है कि "यह मेरा पुत्र है, यह मेरा धन है।" जब वह अपना स्वामी भी आप नहीं, तो पुत्र और धन का स्वामी कैसे हो सकता है ?

अज्ञानी पुरुष जीवन भर ज्ञानी पुरुषों की सेवा करता रहे, तो भी उसे धर्म का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। कड़छी स्वादिष्ट भोजन को बांटती है, परन्तु आप उनका स्वाद नहीं ले सकती। इसके प्रतिकूल वह पुरुष, जिसकी बुद्धि तीव्र है, बुद्धिमान की सेवा थोड़े समय के लिये करने पर भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है। ऐसे पुरुष की अवस्था जिह्वा की अवस्था की तरह है, जो पदार्थों का स्वाद भी लेती है ।

बुरे कर्म का फल तुरन्त प्रकट नहीं होता । दूध भी दुहे जाने पर तुरन्त खट्टा नहीं हो जाता। जिस प्रकार अग्नि राख से ढकी हुई विद्यमान रहती है, उसी प्रकार बुरा कर्म अज्ञानी पुरुष का पीछा नहीं छोड़ता ।'

६—पण्डित के लक्षण

'जो पुरुष धर्म का जल पान करता हैं, वह हर प्रकार स सुखी रहता है। उसका मन शान्त है। पण्डित सदा भले पुरुषों से दी हुई शिक्षा में आनन्द की खोज करता है।'

किसान पानी को वश में करते हैं; तीर बनाने वाले गरम करके तीर को सीधा करते हैं; बढ़ई मकान को बनाता है; पण्डित अपने आपको शासन में करते हैं।

जिस प्रकार आंधी चट्टान को हिला नहीं सकती, उसी प्रकार निन्दा और स्तुति पण्डित को अस्थिर नहीं कर सकते।

जब पण्डित धर्म की चर्चा प्रसन्नता से सुनते हैं, तो वे एक गहरी स्वच्छ और पवित्र झील की तरह हो जाते हैं।

धर्मात्मा पुरुष अनित्य पदार्थों की चेष्टा को त्याग देते हैं। सुखों की खोज में वे अपने आपको अशान्त नहीं करते। पण्डित सुख प्राप्ति से फूल नहीं जाता और दुखों से घबराता भी नहीं।

कोई बिरला पुरुष ही दूसरे किनारे पर पहुंचता है। साधारण पुरुष तो नदी के इधर के किनारे पर ऊपर नीचे दौड़ते रहते हैं। जो लोग धर्म पर आचरण करते हैं, वे पाप पर विजय प्राप्त करके दूसरे किनारे पर पहुंच जायेंगे।

'पण्डित को चाहिये कि अन्धकारमय जीवन त्याग कर उज्ज्वल जीवन व्यतीत करे। गृहस्थी को छोड़ कर बेघर हो जाय। इच्छाओं का त्याग कर दे। भोगों से हट कर, सब कुछ छोड़ छाड़ कर, उसे अपने मन को पवित्र करना चाहिये।'

७—सिद्ध पुरुष

'जिन लोगों के पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं, जो नियमानुसार भोजन करते हैं, जो अनित्य पदार्थों के खोखलेपन को जान कर स्वतन्त्र हो गये हैं,

उनके आचरण के अनुसार अपना आचरण बनाना वैसा ही कठिन है, जैसा वायुमण्डल में उड़ने वाले पक्षी के पथ पर चलना कठिन है।

मनुष्यों में सबसे बड़ा वह है जो अन्धविश्वास से मुक्त है, जिसने सत्य को देख लिया है, जिसने जन्म मरण की गांठों को काट दिया है, जिसने हर प्रकार के कामों के अवसर का अन्त करके सारी चेष्टाओं को त्याग दिया है।

सुहावना स्थान वही है जहां भले पुरुष रहते हों। वह ग्राम हो या जङ्गल, जल पर हो या पृथ्वी पर, इससे कुछ भेद नहीं पड़ता।'

८—सच्चा सूरमा कौन है ?

'जिस पुरुष ने अपने आप पर शासन कर लिया, वह सहस्रों वैरियों को सहस्रों बार जीतने वालों से भी बड़ा विजेता है।

दूसरों पर शासन करने की अपेक्षा अपने आप पर शासन करना उत्तम है। यदि एक पुरुष अपने आप पर विजय प्राप्त कर लेता है और संयम से रहता है, तो कोई शक्ति भी उसकी विजय को निष्फल नहीं कर सकती।'

९—पाप

'यदि किसी पुरुष से पाप-कर्म हो जाय, तो उसे करते नहीं रहना चाहिये। पाप के पीछे चलते रहना ठीक नहीं। पाप का परिणाम दुःख होता है।

यदि कोई अच्छा कर्म करे, तो उसे बार-बार दुहराना चाहिये। भले कामों के लिये अपने अन्दर बलवान् चेष्टा उत्पन्न करना चाहिये। ऐसे कर्मों का फल सुख होता है।

जब तक बुरे कर्मों का फल पूरा प्रकट नहीं हो जाता (बुरा कर्म पक नहीं जाता), उसे करने वाला उसमें सुख अनुभव करता है। जब बुरे कर्म का फल पूरा प्रकट हो जाता है, तब पापी पुरुष को पाप कर्म के सम्बन्ध में पूरा ज्ञान होता है।

भला पुरुष भी (बहुधा) अच्छे कर्मों को उनके पकने के पहिले बुरा समझता है । जब इन कर्मो का फल पूरा प्रकट हो जाता है, तब उसके सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान होता हैं ।

जिस पुरुष के हाथ में कोई घाव नहीं, वह विष को छू सकता है । ऐसे पुरुष पर विष का कोई प्रभाव नहीं होता । इसी प्रकार जिस पुरुष का जीवन पवित्र है, पाप उस पर प्रभाव नहीं डालता ।

जो पुरुष चलती वायु के प्रतिकूल मिट्टी फेंकता है, वह मिट्टी उसी पर पड़ती है । इसी प्रकार जो मनुष्य एक निर्दोषी या निरपराधी को दुख देता है उसके कर्मो का फल उस पर ही लौट आता है ।

न आकाश में, न समुद्र की थाह में, न पर्वतों की कन्दराओं में कहीं ऐसा स्थान हैं, जहां जाकर पापी पुरुष अपने कर्मों के फल से बच सकता हैं, जहां मृत्यु उसे पकड़ नहीं सकती ।'

१०—पवित्र जीवन

'किसी से कटु शब्द न कहो । जिन लोगों से ऐसे शब्द कहोगे, वे उत्तर देगें । कड़ुये और क्रोध भरे शब्द दुख देते हैं । जो इनका उत्तर होगा, उससे तुम्हें भी चोट लग सकती है ।

जिस प्रकार ग्वाला अपने डण्डे से पशुओं को गोचर भूमि की ओर हांक ले जाता है, उसी प्रकार बुढ़ापा और मृत्यु मनुष्य में से जीवन को निकाल देते हैं ।

नग्न रहना, जटा रखना, मिट्टी में रहना, व्रत रखना, भूमि पर सोना, शरीर पर भस्म मलना या साधुओं के आसन लगाना, किसी मनुष्य को, जिसने अपने संशयों को दूर नहीं कर दिया, पवित्र नहीं कर सकते ।

जिस पुरुष ने धार्मिक वृत्ति बना ली है, जो शांत है, सँयमी है, पवित्र जीवन विताता है, किसी को दुख नहीं देता, वह धनी पुरुषों का जीवन व्यतीत करते हुए भी ब्राह्मण है, साधु है, सन्यासी है ।'

११—जीवन अस्थिर है, इसका कुछ बना लो

प्रत्येक वस्तु आग में जल रही है। हंसने और खुशी मनाने का कौन सा अवसर है? हर ओर से तुम अंधेरे से घिरे हुये हो, फ़िर भी तुम प्रकाश की खोज नहीं करते।

इस शरीर को देखो। यह नाना प्रकार के रूपों में दिखाई देता है, नाशवान् है, निर्बल और रोगी है, अनित्य है और निकम्मे विचारों का स्थान है।

यह शरीर निर्बल है, नाश होना इसका धर्म है; यह टूट फूट जाता है, क्योंकि जीवन का अन्त मृत्यु है।

यह श्वेत हड्डियां उन तोबों की तरह हैं, जिन्हें शरद ऋतु में फेंक दिया जाता है। इन्हें देखने से क्या आनन्द मिल सकता है?

यह शरीर हड्डियों का बना हुआ किला है, मांस और रुधिर से लिपा हुआ है। इसके अन्दर बुढ़ापा, मौत, अभिमान और कपट छिपे हुए हैं।

सम्राटों के बहुमूल्य रथ समय व्यतीत होने पर निकम्मे हो जाते हैं। इसी प्रकार यह शरीर निकम्मा हो जाता है। "सत्य धर्म सदा एकरस रहता है।" ऐसा सन्त सन्तों को बताते हैं।

अज्ञानी पुरुष जीवन को बैल की भांति व्यतीत करता हैं। उसका माँस बढ़ता जाता है, किन्तु उसकी बुद्धि नहीं बढ़ती।

जिन लोगों ने ब्रह्मचर्य का सेवन नहीं किया, जिन्होंने यौवन में धन नहीं कमाया, उनके जीवन का परिणाम उन बगुलों की भाँति होता है, जो मछलियों से हीन तालाब में रहते हैं और भूखे मर जाते हैं। ऐसे पुरुष टूटे हुए तीरों के समान होते हैं, जो बीते हुए समय का ध्यान करके शोक करते हैं।'

१२—हमारा भाग्य हमारे हाथ में है

'मनुष्य को चाहिये कि अपने लिये जीवन का कोई कार्य चुने। उसके पीछे दूसरों को शिक्षा दे। ऐसा करने से बुद्धिमान पुरुष चिन्ताओं से बच सकता है।

'प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह जो कुछ दूसरों को बनाना चाहता है, पहले आप वह बने । पहले अपने आप को वश में कर ले, तब दूसरों को वश में कर सकता है । अपने आप को वश में करना बहुत कठिन है ।

मनुष्य आप ही बुरा कर्म करता है और आपही अपने को कलंक लगाता है । आप ही बुराई से बचता और आप ही अपने को पवित्र बनाता है । पवित्रता और अपवित्रता मनुष्य के अपने हाथ में है । कोई पुरुष किसी दूसरे को पवित्र कर नहीं सकता ।

दूसरौं की बड़ाई देख कर अपनें अच्छे गुणों को त्याग नहीं देना चाहिए। जब मनुष्य यह अनुभव कर ले कि उसकी अपनी भलाई किस वस्तु में है (अर्थात् वह आप किस दशा में उन्नति कर सकता है), तो उसे चाहिये कि अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उसके पीछे लग जाये ।'

१३—संसार

'यह संसार अन्धकार में लिपटा है । बहुत थोड़े पुरुष हैं, जो इसमें देख सकते हैं । बहुत थोड़े पुरुष ऐसे हैं जो पिंजड़ों से स्वतन्त्रता पाये हुए पक्षियों की तरह स्वर्ग को जाते हैं ।

हंस आकाश में उड़ते हैं । अपनी असाधारण शक्ति के कारण, वे वायु में इधर उधर जाते हैं । धीर पुरुष पाप और उसकी शक्तियों पर विजय पाकर संसार से पार हो जाते हैं ।

जिस पुरुष ने धर्म का नियम तोड़ा है, जो झूठ बोलता है, जिसने परलोक का ध्यान करना छोड़ दिया है, कोई पाप ऐसा नहीं जिसे ऐसा पुरुष नहीं करेगा ।

अधिक से अधिक जो हम दूसरों के लिये कर सकते है, वह उनके हालात को अच्छा बनाना है । पुण्य और पाप मनुष्य की अपनी कमाई है । यह कर्म का सिद्धान्त है, जिस पर इतना बल दिया गया है ।'

१४—सुख कहाँ है ?

'राग (काम) जैसी कोई अग्नि नहीं; द्वेष जैसा कोई दोष नहीं; जीवन जैसा कोई दुख नहीं; शान्ति जैसा कोई सुख नहीं ।

अरोग्यता परम लाभ है, सन्तोष परम धर्म है; विश्वास सबसे अच्छा बन्धु है; निर्वाण परम सुख है ।'

बुद्ध धर्म की शिक्षा के अनुसार जीवन स्वयं ही सबसे बड़ा दुख है। यह विचार हिन्दू जनता के हृदय में घर कर गया है। इसका परिणाम यह है कि जीवन से सब तङ्ग दिखाई देते हैं । जिसे पूछो: 'क्या हाल है ?', वही कहेगा, 'जो दम बीत जाय, वाह ! वाह !' इस भाव ने हमारी जाति को बहुत निर्बल कर दिया है । यह विचार वैदिक शिक्षा के सर्वथा विरुद्ध है ।

१५—धर्म का मार्ग

मार्गों में आठ अङ्गो वाला मार्ग सर्वोत्तम है ।

सच्चाइयों में चार शब्द सर्वोत्तम हैं।

मानसिक अवस्थाओं में वैराग्य सर्वोत्तम है।

मनुष्यों में ज्ञानी पुरुष सर्वोत्तम है ।

यदि तुम इस मार्ग पर चलोगे, तो तुम अपने दुखों का नाश कर दोगे । जब से मुझे दुखों का ज्ञान हुआ है, तब से मैंने इस मार्ग का प्रचार किया है ।

यत्न तो तुम्हें आप ही करना होगा । ज्ञानी पुरुष तो केवल मार्ग दिखाने वाले खम्भे हैं । जो लोग धर्म मार्ग पर चलते हैं और विचार करते हैं, वे पाप की जंजीरों से मुक्त हो जायेंगे ।'

"जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह अनित्य है।" जो पुरुष इस समय को जान लेता है उस पर कोई दुख प्रभाव नहीं डाल सकता। यह परम पवित्रता का मार्ग है।

"जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह दुखों में फँसा है।" जो पुरुष इस सच्चाई को जान लेता है, उस पर कोई दुख प्रभाव नहीं डाल सकता। यह परम पवित्रता का मार्ग है।

"जो कुछ उत्पन्न हुआ है, वह असत्य है।" जो पुरुष इस सच्चाई को जान लेता है, उस पर कोई दुख प्रभाव नहीं डाल सकता। यह परम पवित्रता का मार्ग है।

जो पुरुष देर करके जागता है, जो जवान और बलवान होने पर भी आलस्य करता है, जिसके मन में निकम्मे विचार भरे हैं, जो प्रमाद में फँसा है, ऐसा पुरुष धर्म के मार्ग को जान नहीं सकता।

अपनी जिह्वा को वश में रक्खो। अपने मन को अच्छी तरह ढाँपो। अपने शरीर से कोई दुष्कर्म न करो। पहिले इन बातों पर आचरण करना चाहिये, उसके पीछे धर्म मार्ग को प्राप्त करने का समय आता है।

योग से बुद्धि उत्पन्न होती है। योग के अभाव से बुद्धि नष्ट हो जाती है। धर्म और अधर्म की ओर ले जाने वाले इन दोनों मार्गों को जानकर मनुष्य को उस मार्ग पर चलना चाहिये, जो बुद्धि को बढ़ाता है।

एक कामना को नहीं, वरन् कामनाओं के सारे बन को काट डालो।

इस बन से भय उत्पन्न होता है। ऐ भिक्षुओ! बन के छोटे और बड़े सब वृक्षों को काट दो और स्वतन्त्र हो जाओ।

"वर्षा में यहाँ रहूँगा, सर्दी की ऋतु वहाँ बिताऊँगा, गर्मी के दिन वहाँ काटूँगा।" बेसमझ पुरुष ऐसे विचार करता है। वह नहीं जानता कि जीवन का कुछ भरोसा नहीं।

बाढ़ आती है और झोपड़ी में सोये हुए मनुष्यों को बहा ले जाती है। इसी प्रकार मौत आती है और सन्तान, धन, सम्पत्ति के मोह में फँसे हुए मनुष्यों को उठाकर ले जाती है।

जब मृत्यु आती है तब पिता, पुत्र, बन्धु कोई बचा नहीं सकता। यह जानकर कि यह लोग तो किसी काम नहीं आ सकते, बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि धार्मिक जीवन द्वारा अपने आपको सुरक्षित रक्खे और मुक्ति की ओर ले जाने वाले मार्ग को स्वच्छ करे।'

१६—तृष्णा

वृक्ष काटा जाय, तो भी, यदि उसकी जड़ें स्थिर हैं, वह बार-बार उग आता है। इसी प्रकार तृष्णा भी यदि जड़ से न उखाड़ दी जाय, तो बार-बार प्रकट हो जाती है।

लोहे, लकड़ी और रस्सी की बेड़ियों को बुद्धिमान दृढ़ बेड़ियाँ नहीं कहते। उनकी दृष्टि में रत्नों और कुण्डलों का प्रेम, स्त्री और बच्चों का मोह अधिक दृढ़ बेड़ियाँ हैं। यह मनुष्य को नीचे खींचती हैं और यद्यपि ये ढीली होती हैं, तो भी इनका तोड़ना कठिन है।

जो कुछ अभी होने वाला है, उसके सम्बन्ध में चिन्ता न करो। जो कुछ हो चुका है, वह तो हो ही चुका। जो कुछ वर्तमान है, उसे भी त्याग कर दूसरे किनारे पर पहुँच जाओ। यदि इस प्रकार तुम्हारा मन स्वतन्त्र हो जाय, तो तुम जन्म मरण के बन्धन से मुक्त हो जाओगे।

जो मनुष्य संशयों से व्याकुल है, जो राग में फँसा है, जो केवल शारीरिक भोगों का ध्यान करता है, उसकी तृष्णा बढ़ती जाती है। ऐसा पुरुष अपनी जंजीरों को कसता जाता है। परन्तु जिस पुरुष ने अपने संशय दूर कर लिये हैं, जो सावधान है, जो भोगों के अशुभ गुणों पर विचार करता है, ऐसा पुरुष पाप के बन्धनों से मुक्त हो जायगा।

सब दानों में धर्म का दान उत्तम है; सब रसों में धर्म का रस उत्तम है; सब रुचियों में धर्म की रुचि उत्तम है। तृष्णा का नाश करने से मनुष्य सारे दुखों पर विजय प्राप्त कर लेता है।

५७— ब्राह्मण कौन है ?

'जो स्वतंत्र और निर्भय है, उसे मै ब्राह्मण कहता हूं ।

जो मनुष्य ज्ञान, ध्यान में लगा रहता है, जो पाप से मुक्त है, जिसने अपना कर्तव्य पालन किया है और उत्तम गति को प्राप्त किया है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

कोई मनुष्य जटा धारण करने से, गोत्र से या ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने से ब्राह्मण नहीं बन जाता। जिस मनुष्य में सत्य और धर्म पाये जाते हैं, वह पवित्र है, वह ब्राह्मण है ।

जिस पुरुष ने संसार के बन्धनों को तोड़ दिया है, जो सब चिन्ताओं से मुक्त है, जो सब सम्बन्धों से ऊपर हो चुका है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जो पुरुष निर्दोष है, और धैर्य से निन्दा, दुख और कैद को सहारता है, मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं। जो पुरुष ऐसा सन्तोष रखता है, वह इसे अपनी सेना समझता है।

जिस पुरुष ने इस जीवन में ही दुखों का अन्त देख लिया है, जिसने अपना बोझ उतार दिया है, जो राग से मुक्त है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

जो मनुष्य द्वेष करने वालों के साथ द्वेष नहीं करता, जो डण्डे का प्रयोग करने वालों के मध्य में भी शांत रहता है, जो विषयों में फँसे हुए लोगों के मध्य में भी स्वतंत्र हैं, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।

किसी पुरुष को भी ब्राह्मण पर प्रहार नहीं करना चाहिये। यदि कोई उस पर प्रहार कर दे, तो ब्राह्मण को उससे द्वेष नहीं करना चाहिए। शर्म ऐसे पुरुष के लिए जो ब्राह्मण पर प्रहार करता है, उससे अधिक शर्म उस ब्राह्मण के लिए, जो प्रहार करने वाले से द्वेष करता है।

१८—भिक्षु (सन्यासी) कौन है ?

'भिक्षु के गुण यह हैं:—

उसका जीवन संयम का जीवन होता है।

वह ध्यान में आनन्द अनुभव करता है। उसका मन चञ्चल नहीं होता। एकान्त में उसे आनन्द होता है।

उसके व्यवहार में नम्रता का प्रकाश होता है।

वह धर्म परायण होता है।

वह नाम रूप वाले पदार्थों को अपनी सम्पत्ति नहीं समझता।

वह ज्ञान और ध्यान को अपने जीवन में सम्मिलित करता है।

हे भिक्षु ! इस शरीर रूपी नौका को खाली कर दो। जब वह खाली हो जायगी तो सहज ही और शीघ्र गति से चलेगी। राग और द्वेष को छोड़ दो, तब तुम निर्वाण प्राप्त कर सकोगे।

भिक्षुओ ! ध्यान में लगे रहो और प्रमाद में न फँसो। अपने चित्त को काम के वश में न आने दो। ऐसा तो न करो कि पहिले लोहे का जलता हुआ गोला निगल लो और जब वह जलाये तो चिल्लाना आरम्भ कर दो— "हाय मैं जल गया।"

भिक्षु कब शान्त कहलाता है ? जब वह कर्म में शान्त हो, वाणी में हो, विचारों में शान्त हो, और इस संसार के भोगों को बिलकुल त्याग दे।